द्वितीय अध्याय

"नागार्जुन के उपन्यासों में चित्रित ग्राम जीवन : सामाजिक संदर्भ"

द्वितीय अध्याय

''नागार्जुन के उपन्यासों में चित्रित ग्राम जीवन - सामाजिक संदर्भ''

2.1 प्रस्तावना।

2.2 भारतीय समाज जीवन की स्थिति और गति।

2.2.1 ग्रामीण समाज जीवन की विशेषताएँ।

2.3 नागार्जुन के उपन्यासों में समाज जीवन की विशेषताएँ।

2.4 नागार्जुन के उपन्यासों में सामाजिक स्थिति -

2.4.1 किसानों की स्थिति।

2.4.2 शिक्षा प्रसार।

2.4.3 अंधविश्वास।

2.4.4 देवी-देवता।

2.4.5 नारी जीवन।

2.4.6 जातीयता।

2.4.7 परिवार।

2.4.8 रहन-सहन।

2.4.9 रूढ़ि-परम्परा।

2.4.10 विकास योजनाएँ।

निष्कर्ष

द्वितीय अध्याय

''नागार्जुन के उपन्यासों में चित्रित ग्राम जीवन - सामाजिक संदर्भ''

2.1 प्रस्तावना :-

हिन्दी उपन्यास साहित्य में नागार्जुन का अपना एक विशिष्ट स्थान है। निम्नवर्गीय समाज की वेदनाओं और उनकी समस्याओं को उन्होंने अपने उपन्यासों में उजागर किया है। ग्रामीण जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति को उन्होंने अपने उपन्यास साहित्य का मुख्य केन्द्र बनाया है। इनके उपन्यासों में मिथिला के ग्रामों, वहाँ के जनजीवन तथा उन समस्याओं को यथार्थ रूप में चित्रित किया है। सच्चे अर्थों में देखा जाए तो पीड़ित, शोषित, दलित जनता के प्रतिनिधि नागार्जुन मानवता के सजग प्रहरी है, जो समाजवाद और जनतंत्र दोनों में विश्वास रखते है। अत: हम ग्रामीण जीवन के साथ-साथ ग्राम तथा ग्राम संकल्पना क्या है। इसका अध्ययन करेंगे।

'ग्राम' :-

भारत में 70 प्रतिशत लोग ग्रामों में रहते हैं। भारत में प्राचीन काल से खेती प्रधान व्यवसाय के रूप में की जा रही है। अत: हमारे देश की अर्थव्यवस्था कृषि पर ही निर्भर है। किसान खेती करते हैं तथा वे छोटे-छोटे ग्रामों में बसे हुए है। ये लोग गरीब भोले-भाले, अनपढ़, गंवार, अज्ञानी होने से रूढ़ि एवं परम्पराओं को मानते हैं। उनमें अंधविश्वास अधिक रहता है। जात-पाँत की भावना, उच्च-नीच की भावना इनमें अधिक मात्रा में रहती है। आपसी मतभेद, द्वेष भावना, उच्च-नीच की भावना उनमें दिखाई देती है। गाँवों में जमींदार, पूँजीपति, सेठ-साहूकार, साधु, ठग, मांत्रिक-तांत्रिक आदि से उनका शोषण होता रहता है। इन लोगों के परस्पर सम्बन्धों का और उनमें निर्माण होने वाली समस्याओं का परिचय ग्रामों के परिवेश में मिलता है।

'ग्राम' शब्द से 'ग्रामीण' शब्द बना है। ग्रामों के बारे में जानकारी लेने से पहले हमें 'ग्राम' यह संकल्पना क्या है यह जानना जरूरी है।

छोटे से आकारवाले भूभाग पर कुछ लोग एकत्र होकर जीते हैं उस भूभाग को 'ग्राम' कहते हैं।

इससे स्पष्ट होता है कि ग्राम छोटा होता है, वहाँ की आबादी कम रहती है और वहाँ के लोगों का प्रमुख व्यवसाय खेती करना होता है, और ऐसे ही भूभाग को 'ग्राम' कहते है।

'ग्राम'शब्द के अर्थ और स्वरूप को स्पष्ट करते समय अनेक विद्वानों ने अपना-अपना योगदान दिया है। उनके अनुसार 'ग्राम' शब्द तथा इसका स्वरूप, अर्थ कुछ इस प्रकार है।

✻ कुछ परिभाषाएँ -

1) संस्कृत और प्राकृत में ग्राम शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में मिलता है। जैसे अमरकोश में - "घोष, आभीर आदि जातियों के विश्राम स्थल के लिए ग्राम शब्द का प्रयोग किया है।"[1]

2) "प्राचीन काल में प्राय: ग्राम में भिन्न जाति के लोग रहते थे, जो जातिगत पेशा करते थे। ग्राम के समीप की भूमि उपशल्य कहलाती है।"[2]

3) तर्कतीर्थ लक्ष्मणशास्त्री जोशी के मराठी विश्वकोश के अनुसार, "अपने खेती के पास रहकर स्वतंत्र या सामूहिक रूप से खेती करनेवाले खेतिहारों की स्थायी बस्ती को 'ग्राम' कहा जाता है।"[3]

4) हिन्दी शब्द सागर में, "ग्राम शब्द का अर्थ है, 'छोटी बस्ती'। गाँव मनुष्य के रहने का स्थान।"[4]

5) धीरेन्द्र वर्मा ने ग्रामगीत की परिभाषा करते समय 'ग्राम' के सम्बन्धों में लिखा है - "ग्राम तो एक इकाई है, उनमें लोकमानस विदयमान रहता है।"[5]

6) आदर्श मराठी शब्दाकोश में 'ग्राम' का अर्थ 'बस्ती की जगह' है।[6]

इस प्रकार पहले, मनुष्य के बाद खेती फिर परिवार और बस्तियाँ बनी और आगे चलकर बस्तियों का स्वरूप ग्रामों में बदल गया होगा। इससे स्पष्ट होता हैं कि जहाँ कही समूह की निर्मिति होती है आगे चलकर वहाँ के भूमि को 'ग्राम' का स्वरूप मिलता है।

✻ ग्राम स्वरूप :-

प्राचीन काल में मनुष्य किसी नदी के किनारे या जहाँ कहीं पानी की उपलब्धि है वहाँ रहता था। इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल का मनुष्य भौगोलिक विशेषता से परिपूर्णवाले भूभाग पर रहता था और आगे उन छोटे-छोटे भूखंडों का रूपांतर ग्रामों में हुआ। एक जाति के नष्ट होने के बाद अक्सर दूसरी जाति वहाँ उभर आती थी। देखा जाए तो आज भी विभिन्न स्तरों पर अलग-अलग जातियों के अवशेष मिलते हैं। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि भौगोलिक विशेषतावाले भूभाग पर बस्तियाँ बनाकर मनुष्य रहा होगा इसमें कोई शक नहीं है।

⁂ विविध कालों में ग्रामों की स्थिति :-

वैदिक काल में मानव के खेती और पशुपालन ये दो प्रमुख व्यवसाय थे। खेती को अधिक महत्त्व था, रामायण, महाभारत काल में ग्राम ऐसी जगह बसे हुऐ थे, जहाँ नदी, नाले थे और शिकार के लिए नजदीक जंगल। मध्यकाल में ग्रामों में सोलह महाजनपद प्रमुख थे। प्रत्येक राज्य पुर और जनपदों में विभक्त था। मौर्य काल में ग्रामों की स्थिति में सुधार आया था। वे पहले की अपेक्षा विकसीत हुए थे। ग्रामों की सीमाओं को निश्चित किया था। मुगलकाल में ग्रामों में लोग अपने घरेलु व्यवसाय और खेती करते थे। ग्रामीण लोगों का जीवन एक-दूसरे पर अवलम्बित था। कृषक, मजदूर, लुहार, बढ़ई, कुम्हार, चमार सब अपना-अपना काम कर एक दूसरे के सहाय्यक और सहयोगी थे।

अंग्रेजों के शासन काल में ग्रामों की स्थिति बहुत ही खराब थी। सरकार द्वारा लोगों का शोषण किया जाता था, उनके कल्याण के लिए सरकार तैयार नहीं थी, आधुनिक काल में ग्रामों की स्थिति सुधरने लगी क्योंकि आजादी मिलने के बाद अपनी सरकार का शासन शुरू हुआ। उसमें लोगों के हित और कल्याण के लिए अनेक विकास योजनाएँ बनाई गयी। आधुनिक शिक्षा व्यवस्था के कारण बहुत से युवक उँची-पढाई-लिखाई करके नौकरी की तलाश में शहर (नगर) जाने लगे। कुछ लोग नगरों की रौनक, चका चौंध सुख-सुविधाओं के कारण नगर की ओर आकर्षित होने लगे। इसका गहरा असर ग्रामों पर पड रहा हैं। लोग खेती-बाडी, घर-जायदाद बेचकर नगरों की ओर आने लगे है। इस प्रकार आधुनिक काल में ग्रामों की स्थिति बिघडने लगी। ''स्वाधीनता के बाद देश में लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था अपनाने से गाँव का महत्त्व बढ़ा। गाँव राजनेताओं के लिए अपरिहार्य हो उठे। देश की इस वास्तविकता के साथ नेताओं ने तो अभी तक गाँव से खिलवाड किया है।''[7]

''आँचलिक उपन्यासों में आये अनुभवों का धरातल बहुत व्यापक है। इन उपन्यासों में विविध क्षेत्र के गाँव एवं अंचल आये हैं। कोई मैदानी गाँव है, कोई पहाडी क्षेत्रों में बसा गाँव है, कोई समुद्र किनारे का गाँव है और कोई सभ्यता की रोशनी से बिल कुल दूर प्रकृति की गोद नहलाता गाँव है। इन विभिन्न प्रकार के गाँवों एवं अंचलों की अपनी-अपनी जीवन-पद्धति, अपनी-अपनी समस्याएँ, अपने-अपने तीज त्यौहार तथा अपनी-अपनी भाषा और बोलियाँ हैं, जिन्हें बोलते गाते ये लोग जीते हैं।''[8]

❋ स्वातंत्र्योत्तर ग्राम-जीवन :-

"स्वातंत्र्योत्तर का अर्थ वह काल जो 15 अगस्त 1947 के पश्चात अभियुक्त है और जिसमें आधुनिक युक्त जीवन की समस्त संभावनाएँ और देशगत बहुविध विकसनशील वृत्तियों के प्रसार की कल्पनाये है।"[9] भारतीय जनजीवन की सारी आकांक्षाएँ इसी काल पर है। आजादी के पश्चात लोकतंत्र की स्थापना, समाजवादी व्यवस्था, खेती सुधार, विकास योजना, आर्थिक नियोजन, केन्द्रिय तथा राज्य सरकार, संविधान आदि से देश का विकास होने लगा। ग्रामसुधार, खेती विकास, सिंचन व्यवस्था, नया तंत्रज्ञान, यातायात के साधन, बिजली आदि प्रमुख विशेषता रही है।

ग्रामों का विकास होने के साथ भ्रष्टाचार, कृषि या कुटीर उद्योगों की अपेक्षा महंगाई, अकाल, बाढ की समस्या, नेताओं की मतलबी प्रवृत्ति के कारण विकास की गति धिमी रही । जिसका प्रभाव गाँवों पर भी पडा, औदयोगिकरण से नगर बने तो गाँवों का रूप बस्ती में परिवर्तित हुआ। आज भी यही हाल है।

2.2 भारतीय समाज जीवन की स्थिति और गति :-

भारत में 70 प्रतिशत लोग ग्रामों में रहते हैं। भारतीय ग्राम सदियों से पिछडे हुए है। अत: ग्रामों में रहनेवाले लोगों का सामाजिक जीवन भी पिछडा हुआ हैं ऐसा कहना तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। सामाजिक जीवन में परिवार, शिक्षा, जात-पाँत, छुआछूत, रूढ़ि एवं परम्परा, अंधविश्वास, शोषण, अन्याय, अत्याचार और भ्रष्टाचार के कारण ग्रामों का विकास नहीं हुआ है। इन्हीं कारणों से ग्रामीण लोगों का सामाजिक जीवन बहुत ही दयनीय और सोचनीय रहा है। स्वातंत्र्योत्तर काल में सरकार द्‌वारा ग्रामों के सुधार के लिए अनेक योजनाएँ कार्यान्वित की गई हैं, और उनके विकास के लिए कोशिश भी की जा रही है। किन्तु सरकारी योजनाओं की असफलता और ग्रामीण लोग अज्ञान, अशिक्षित होने के कारण उनका विकास नहीं हो रहा है। नागार्जुनजी ने अपने उपन्यास में ग्रामीण जीवन के 'सामाजिक पक्ष' का अपने अनुभव से चित्रण किया है। अत: निष्पक्षता के साथ उन्होंने ग्रामीण जीवन की समस्याओं, विसंगतियों और प्रश्नों को स्वयं देखा है, सहा है और भोगा भी है। इसलिए उन्होंने अपने उपन्यास साहित्य में ग्रामीण जीवन के सामाजिक पक्ष का यथार्थ रूप से, सटीकता से चित्रण किया है।

2.2.1 ग्रामीण समाज जीवन की विशेषताएँ :-

1) अज्ञान एवं अंधविश्वास।
2) रूढ़ि प्रथा का निर्वहन।
3) कमजोर तथा शोषित मानसिकता।
4) खेती, कुटीर उद्योग।
5) जातीयता।
6) परम्परागत मान्यता।
7) राजनीति का प्रभाव।
8) भौतिक सुविधा का अभाव।
9) लोक संस्कृति की रक्षा।
10) स्वच्छ - प्रदूषण रहित परिवेश।
11) प्रकृति के निकट।
12) नारी, दलित की शोषनिय दशा।
13) जो मिले उस पर जीवन निर्भर।
14) संघर्ष-ईर्ष्या का भय।

अत: इन विशेषताओं के दर्शन ग्राम में होते है। आज इसमें कुछ बदलाव आ रहा है, इसका कारण शिक्षा प्रसार, नगरों का संघर्ष, भौतिक सुविधाएँ, प्रसार माध्यमों का प्रभाव आदि है। साहित्य में आज की परम्परागत 'ग्राम' के दर्शन होते है।

2.3 नागार्जुन के उपन्यासों में समाजजीवन की विशेषताएँ :-

हिन्दी उपन्यास साहित्य के सशक्त हस्ताक्षर के रूप में नागार्जुन जी को माना जाता है। उन्होंने अपने उपन्यासों में निम्न समाज वर्ग का चित्रण यथार्थता से किया है। नागार्जुन जन से परे नहीं, उसके साथ है। जन भी 'तुच्छजन' जो सदियों से प्रताडित, लांच्छित रहा है। उनके आगे जन है, तो पीछे जन। साहित्य में जन है, तो जीवन में जन। और जन उन्हें एक जगह नहीं टिकने देता। वे जन के लिए है तो जन उनके लिए। अत: भारतीय समाज जीवन की विशेषताओं को उन्होंने अपने साहित्य में बखुबी उतारा है। उनके ग्रामीण जीवन के सामाजिक पक्ष या संदर्भों के विविध पहलुओं तथा आयामों का विवेचन करने पर यह स्पष्ट होता है कि, उनमें अशिक्षा, अज्ञान, अंधश्रद्धा,

अंधविश्वास, रूढ़ियों एवं परम्पराओं की मान्यताएँ, उनका पालन करने की प्रवृत्ति, स्वार्थ, धनलोलुपता, झूठी प्रतिष्ठा, ईर्ष्या, द्वेष भावना, कामवासना, यौन सम्बन्ध, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक स्थित्यंतर आदि का समाज जीवन पर गहरा असर दिखाई देता है। अत: सच्चाई, ईमानदारी, नैतिक मूल्य, सदाचार सिद्धांतों का पूरी तरह से ऱ्हास हुआ दिखाई देता है।

नागार्जुन ने अपने साहित्य में गरीब चरवाहे से लेकर मंत्री तक का वर्णन किया है। नागार्जुन के कथासाहित्य में हीन-दीन, शोषित जनता की यथार्थपरक झाँकी देखी जा सकती है। ''जिनके पास मेहनत करने के बावजूद ओढ़ने पहनने को कपडा नहीं और खाने को अन्न नहीं, मात्र चन्द रूपयों के ब्याज में उम्रभर के लिए गुलाम बन जाते हैं और यह सिलसिला पीढ़ियों तक चलता रहता है। 'रतिनाथ की चाची' का कुल्ली राऊत और 'बलचनमा' में खुद बलचनमा के पिता ऐसे ही पात्र हैं, जो हैं और आजीवन जमींदारों की जूठन खाकर, उनकी उतरन के कपडे पहनकर जीने के लिए विवश कर दिये जाते है। उनका खाना, पहनना, सब कुछ उँची जातवालों पर निर्भर करता है।''[10]

नागार्जुन एक सजग लेखक होने के कारण जीवन की बारिकियों को उन्होंने अच्छी तरह से पकडा है। समाज में माता-पुत्र के रिश्ते के समान देवर-भाभी के सम्बन्ध को पवित्र माना जाता है। बडे देवर को पिता या भाई की तरह माना जाता है, तो बडी भाभी के रिश्ते बहुत ही पवित्र, ममतापूर्ण माने जाते हैं। इतिहास और ग्रंथों में इसके अनेक प्रमाण मिलते है जिसके पुक्ता सबुत भी है। 'रतिनाथ की चाची' इस उपन्यास में मैथिल समाज का यथार्थ और प्रामाणिक परिचय मिलता है। अपने देवर की वासना की शिकार गौरी को किस तरह समाज द्वारा प्रताड़ना सहनी पडती है, उसके दु:खों को सुनने के लिए कोई तैयार नहीं, स्वयं उसका बेटा भी उससे घृणा करता है, लेकिन यह सब गरीब और छोटी जातिवालों को ही सहना पड़ता है। चमाइन कहती है, ''एक बात कहती हूँ माफ करना बड़ी जातवालों की तुम्हारी यह बिरादरी बडी बिरादरी में किस जिसके पेट से आठ-आठ नौ-नौ महिने का बच्चा निकाल कर जंगल में फेंक आने का रिवाज नहीं है और, कैसा कलेजा होता है तुम लोगों को मइया री मइया।''[11] देहाती जीवन का नागार्जुन को बड़ा गहरा अनुभव है। विषय सामाजिक विषमता के कारण दलित ही हमेशा से पिसते आये है। ''समाज उन्हीं को दबाता हैं जो गरीब है। शास्त्रकारों को बलि के लिए बकरे ही नजर आते। बाघ और भालू का बलिदान किसी को नहीं सूझा। बड़े-बड़े दाँत और खुनी पंजे पंडितों के सामने थे; इसलिए उधर से नजर फेरकर उन्होंने बेचारे बकरे का फतवा दे डाला।''[12]

नागार्जुन ने एक ओर मार्क्सवादी सिद्धान्तों को आत्मसात किया है और दूसरी ओर देहाती जीवन के प्रति उन्हें लगाव है। इसलिए वे जीवन की उन शाक्तियों को उभारते हैं जिनसे समाज में दूरियाँ दूर होगी, रूढ़ियाँ नष्ट होगी और मानव का विकास होगा। 'रतिनाथ की चाची' एक कुलिन किंतु अकिंचन विधवा की करूण कहानी है। 'बलचनमा' एक साधनहीन किसान के जीवन की दु:खमय गाथा हैं। 'नई पौध' में अनमेल विवाह की समस्या को उठाया गया है। 'बाबा बटेसरनाथ' में सामूहिक तथा समाजवादी चेतना का विकास है ।[13]

2.4 नागार्जुन के उपन्यासों में सामाजिक स्थिति :-

नागार्जुन ने ग्रामीण जीवन के सामाजिक संदर्भ (पक्ष) के अंतर्गत उनकी सामाजिक स्थिति का यथार्थता से चित्रण किया है। 'नागार्जुन की सहानुभूति पीडित शोषित जन के प्रति अधिक रही है। स्वयं अभावों में पलने के कारण उन्होंने समाज में व्याप्त विषमता को निकट से देखा भोगा है। एक ओर तो वह वर्ग है निरन्तर श्रम करने के बावजूद भरपेट रोटी नहीं खा सकता और दूसरा वह वर्ग है जो बिना किसी काम के ऐशो आराम करता है।'[14]

नागार्जुन ने सामाजिक स्थिति को स्पष्ट करने के लिए ग्रामीण लोगों का पारिवारिक जीवन, नारी जीवन, शिक्षा, विवाह, प्राकृतिक प्रकोप, जात-पाँत, छुआछूत, रूढ़ियाँ एवं परम्पराएँ, अंधविश्वास, शोषण, भ्रष्टाचार, अन्याय और अत्याचार आदि का सामाजिक जीवन पर पड़नेवाले असर का अपने उपन्यास साहित्य में चित्रण किया है।

बलचनमा भारतीय किसान का एक प्रतिनिधि चरित्र हैं। इसमें मिथिला अंचल के भूमिहीन किसान के संघर्ष उत्पीड़न और नई चेतना की कहानी हैं। डॉ. सुषमा धवन के अनुसार, "लेखक का उद्‌देश्य बलचनमा के जीवन संघर्ष के चित्रण द्‌वारा उस समाजवादी चेतना की ओर निर्देश करना हैं जो साधनहीन एवं स्वाधिकार वंचित किसान के अन्तर में अन्याय तथा अत्याचार के प्रति विद्रोह की भावना को जन्म दे रही हैं।"[15] बलचनमा के अभावों और उसके आधार पर शोषितों की समस्याओं के आर्थिक पक्ष पर समाजवादी दृष्टीकोन से विचार प्रस्तुत करने में नागार्जुन को पर्याप्त सफलता मिली है। "मालिक के बाग से जैकिसुन भोग चुराने पर बलचनमा के बाप को खमेली से बांध कर पीटने, मलिकाईन का बलचनमा को अपने पुत्र को रूलाने के आरोप में गालियाँ देना और आड़देर से पहुँचने पर क्रोधवश झाड़ू से मारना।"[16] आदि जगह नागार्जुन में यथार्थ की जो मजबूत पकड हैं वह बहुत कम लेखकों में हैं।

BARR. BALASAHEB KHARDEKAR LIBRARY

'बाबा बटेसरनाथ' में ग्राम का पिछले सौ वर्षों के इतिहास का जिक्र है, जिसमें जैकिसुन को उसके दादा, परदादा से लेकर विदेशी राज्य की स्वार्थपरता, जमींदारी उन्मूलन तथा कांग्रेसी इतिहास को स्पष्ट किया हैं। बटवृक्ष के विश्वसनीय एवं कलात्मक प्रतीक द्वारा कृषक एवं श्रमिक जीवन के शोषण का यथार्थ इतिहास जैकिसुन के समक्ष प्रस्तुत कर, उसे अन्याय और उत्पीडन का प्रतिकार करने के लिए तत्पर बनाना और सर्वहारा वर्ग की संगठित शक्ति द्वारा एक नवीन व्यवस्था स्थापित करने की प्रेरणा देना ही उपन्यास के मुख्य कथानक का उद्देश्य है।[17]

नागार्जुन ने जमींदारों के अत्याचार औरा अनाचारों का चित्रण करते समय मजदूरों और किसानों के प्रति सहानुभूति व्यक्त की हैं। 'बलचनमा' निम्न वर्ग का एक ऐसा पात्र है जो सदा से पिसता आया है। नागार्जुन के 'बलचनमा' जैसे चरित्र की सृष्टी कर एक ऐसे पात्र को रचा है, जो आज तक नायक नहीं समझा जाता । इसका एक मात्र कारण है उसपर हुये अत्याचार, अनाचार, शोषण। बलचनमा अंत में अत्याचारों के खिलाप संघर्ष करने का बीड़ा भी उठाता हैं। वह सोचता है जैसे अंग्रेज बहादुर से सौराज लेने के लिए बाबू लोक एक हो रहे हैं उसी तरह कुली, मजदूर को अपना हक्क लेने के लिए बाबू भैया से लडना होगा। हमारा समाज आज उन स्थितियों से उभरा नहीं है।

'नई पौध' में उस नई पीढ़ी की ओर संकेत किया है जो नई चेतना अपना रही है। गाँव में प्रचलित अनमेल विवाह की समस्या को नागार्जुन ने इस उपन्यास में उभरा है। ''बिसेसर का एक बूढे से विवाह कराकर नारकीय जीवन में ढकेलने का जो षड़यंत्र ढ़लती पीढ़ी ने किया है, और समाज ने जिसका स्वीकार किया है उसे नई पीढ़ी के नवयुवकों ने तोड़ दिया हैं। और ग्राम के एक युवक के साथ उसका विवाह करा देते है।''18

आजाद हिंदुस्थान में भी आज शोषित पीड़ित निम्न वर्गीय लोग पूँजीपतियों, जमींदारों के शोषण का शिकार होते रहे है। आज भी ये लोग इस जंजीरों में जकडे हुए हैं। नागार्जुन इस समस्याओं से दूर नहीं है। बलचनमा, रतिनाथ की चाची, चमाईन, बचलनमा की माँ, आदि लोग निरन्तर शोषण की इस जंजीरों में जकडे हुए है। 'बलचनमा' में बलचनमा के बाप को आम चुराने के कारण खमेली से बांधकर पीटा जाता है। मालिक का बलचनमा की बहन पर बुरी नजर डालना और बलात्कार करने का प्रयास करना। इससे बलचनमा क्रोधित होकर निश्चय करता हैं कि, ''आखरी दम तक मैं तेरे खिलाफ डटा रहूँगा। अपनी सारी ताकत को तेरे विरोध मे लगा दूँगा। माँ और बहन को जहर दे दूँगा लेकिन उन्हें तू अपनी रखेली बनाने का सपना कभी पूरा नहीं कर सकेगा।''[19]

बलचनमा का यह विचार शोषक की ताकतों के खिलाफ उसकी प्रगतिशील चेतना है। आगे वह कहता हैं कि "अपने हक्क के लिए निम्न वर्गीय लोगों को बबुआन से लड़ना पडेगा।"[20]

नागार्जुन के पात्र अन्याय और अत्याचाररूपी राक्षस से सदा जूँझते दिखाई पडते है। इसका प्रमाण हमें उनके उपन्यासों में मिलते है जैसे कि 'नई पौध' की बमपाटी चौधरी और खोखा पंडित की एक भी नहीं चलने देती है और एक वृद्ध से बिसेसारी का ब्याह नहीं होने देते।

लेखक के अनुसार न केवल जमींदार बल्कि आज का शासक वर्ग निम्नवर्गीय लोगों का शोषण करता है। इसीलिए वह सत्ता पक्ष के लोगों पर भी भरेसा नहीं करता। डॉ. सुषमा धवन के शब्दों में, "लेखक का दृष्टीकोन वर्तमान शासन व्यवस्था के प्रति अनास्था तथा विद्रोह और समाजवादी व्यवस्था के प्रति आस्था में झलकता है।"[21] बलचनमा पाठकों के समक्ष एक ऐसे ही पात्र के रूप में उभर कर आता हैं।

नागार्जुन ने समाज के विभिन्न वर्गों को अपने साहित्य में चित्रित कर अपनी सजगता का परिचय दिया है। इसे हम लेखक की अनुभूति क्षमता का परिचायक ही कहेंगे क्योंकि एक अनुभूति सम्पन्न लेखक ही इतने विवधतापूर्ण तरीके से अपने साहित्य का सृजन कर सकता है, समाज की असल नब्स को पकड सकता है।

2.4.1 किसानों की स्थिति :-

भारत कृषिप्रधान देश है। देश का प्रमुख व्यवसाय खेती हैं। अत: खेती पर देश की वित्त व्यवस्था और लोगों का जीवन निर्भर हैं। खेती करनेवाले लोग गाँवों में रहते हैं। अत: ग्रामों में रहनेवाले किसानों की स्थिति और गति क्या हैं ? उनका खान-पान, रहन-सहन, रस्म-रिवाज, जाति-पाँति, आदि बातें महत्त्वपूर्ण है। किसान खेती करते हैं तथा वे छोटे-छोटे ग्रामों में बसे हुए हैं। ये लोग गरीब, भोले-भाले, अनपढ़, गवॉर अज्ञानी होने के कारण रूढ़ि एवं परम्पराओं को अपनाते है। उनमें अंधविश्वास अधिक रहता है। ग्रामों में जमींदार, पूँजीपति, सेठ-साहूकर, साधु, मांत्रिक-तांत्रिक आदि से इन गरीब किसानों का शोषण होता है। अत: इससे किसानों को अनेक समस्याओं का सामना करना पडता है। "कृषि ही किसानों का मुख्य व्यवसाय होने के कारण गाँव की आर्थिक चेतना प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष कृषि से ही संबल प्राप्त करती है। भूमि सम्बन्धी विषमताओं ने छोटे-बडे किसानों में दूरियाँ पैदा की है, नये सम्बन्ध बोध को विकसित किया है। जमींदारी उन्मूलन ने गांव के तथाकथित मुखिया वर्ग को समाप्त कर निम्न वर्ग को राहत दी। निम्न वर्ग में निजत्व का अहसास

जगा है। किसान और भूमिहीन मजदूर में भी आज नवीन परिस्थितियों में तनाव आया हैं। सरकारी स्तर पर आयोजित भूमि-सुधारों ने गांव को ईर्ष्या, द्वेष भरी नई मानसिकता प्रदान की है।''[22] इससे स्पष्ट है कि, ग्रामीण परिवेश में किसानों की स्थिति में जो कुछ बदलाव आए हैं वे किसानों के लिए कुछ हद तक फायदेमंद रहे हैं।

भारतीय ग्राम सदियों से पिछडे हुए है। अत: ग्रामों में रहनेवाले लोगों का सामाजिक जीवन भी पिछडा हुआ हैं। ग्रामों में सदियों से जमींदारों के अत्याचार देखने की मिलते हैं। आजादी के बाद जमींदारों की जमींदारी नहीं रही है, किन्तु उनके अत्याचार अपनी जडे जमाए हुए हैं। किन्तु अब किसान वर्ग अन्याय और अत्याचारों के खिलाफ लड़ रहे है, इसका वास्तविक चित्रण हमें साहित्य में मिलता हैं। डॉ. प्रकाशचंद्र भट्ट के शब्दों में ''बलचनमा के रूप में कभी न भुलाये जा सकनेवाले पात्र का सृजन किया गया हैं। वह सच्चा भारतीय किसान बनकर हमारे सामने लाया गया हैं। जमींदारों से त्रस्त किंतु कठोर परिश्रमी और ईमानदार हैं। उसकी अबोधता का कोई अनुचित लाभ ले ले, सोये हुए बलचनमा पर जाल डालकर काबू पा ले यह अलग बात हैं किन्तु अन्याय का वह जमकर मुकाबला करता हैं। अन्याय के प्रतिकार के लिए वह फरसा भी उठा लेता है। उसकी यह क्रांति कृषकों की नव चेतना का प्रतिक हैं।''[23]

किसानों का जीवन खेती पर निर्भर हैं और खेती बारिश पर। कभी-कभी समय पर बारिश न होने के कारण या भारी वर्षा से फसले, जानवर, मकान आदि की बरबादी होती हैं। इसका गहरा असर किसानों पर पडता हैं। गरीब मजदूर और किसानों को गरीबी के कारण जीवन जीना मुश्किल हो जाता हैं। ऐसी हालत में उन्हें मजबूर होकर जेवर बेचने पडते है, सेठ, साहूकारों से कर्ज लेना पडता हैं। उसे चुकाते-चुकाते उनकी पीढ़ियाँ बर्बाद हो जाती हैं। पूँजीपति, जमींदार, सेठ साहूकार आदि उनकी मजबूरी का लाभ उठाते हैं। गरीबी के कारण वे इसे चुपचाप सह लेते हैं।

भारत का किसान परम्परागत पद्धति से खेती करने के कारण अधिक उपज नहीं कर सकता परिणामस्वरूप उनकी आर्थिक परिस्थिति में सुधार नहीं हो रहा हैं। सरकार ने ग्राम और खेती में सुधार के लिए अनेक विकास योजनाँ और प्रकल्प शुरू किये हैं। किन्तु उनकी कार्यवाही सही ढंग से न होने के कारण किसान उन लाभों का फायदा नहीं उठाता इसका एक मात्र कारण समाज में स्थित भ्रष्ट नेता और सरकारी अधिकारी वर्ग हैं। इस कारण किसानों की आर्थिक स्थिति में सुधार नहीं हुआ हैं।

16384

किसान की आजीविका खेती पर अर्थात फसल पर निर्भर हैं अत: फसल अच्छी तो किसानों की स्थिति अच्छी यही मान्यता हैं। 'बलचनमा' में नागार्जुन ने इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा है ''असाढ़ में धान के छोटे पौधे लोग इन्हीं खेतों में रोपना शुरू करते हैं। धान रोपने का यह सिलसिला सावन तक चलता रहता हैं। हाँ, ऐसा, वही होता है जहाँ बारिश काफी होती हैं। हमारे यहाँ नहर का इन्तजाम नहीं हैं। इन दिनों हर काश्तकार की कोशिश यहीं रहती है कि पहले उसी के खेतों में धान रोपती हो जाय। बनिहारों और खेत मजूरों की मदत के बिना ऐसा होना असंभव हैं। छोटे बडे सभी गिरहथर (गृहस्थ) इसी सी धान रोपनेवाले मजदूरों के चार सेर मजदूरी देते थें और यह भी कि मेड पर बैठाकार दाल-भात तरकारी अचार खिलाते थे।''[24] धान की कटाई जहाँ-तहाँ शुरू हो गयी थी बल्कि आधी फसल कट भी चुकी थी। राँगी धान जब धानों से पहले तैयार होता है। पकी पीली फसलों से समूचा वाघ ऐसा बुझाता था मानो सुनहरी मिट्टी से पुता हुआ भारी मैदान हो। मेडों की चौकोर लकीरे धान के शीशों से ढँकी पडी थी। बीच-बीच में अँगोरनेवालें की झोपडियाँ , भूरे पालवाली नावों की तरह लगती थी। सारे खेतों पर अन्नपूर्णा भवानी के असिरवाद (आशीर्वाद) पकी फसलों की सकल में छाये हुए थे। लोगों की खुशी का न और न छोर सभी के मुँह पर मुस्कान, सभी की आँखों में कामयाबी की झलक। जिनकी अपनी फसले थी वे भी खुश थे,जिनके नहीं थे वे भी खुश थे। [25] इससे किसानों की स्थिति स्पष्ट होती है।

ग्रामों में किसानों को अनेक मुसीबतों का सामना करना पडता था एक दृष्टव्य, 'हमारे लिए यह भारी मुसीबत आ रही थी। मेरी तरह बीसों की गन्ने की फसल तैयार खडी थी काफी अच्छी फसल साल भर से इस फसल की ओर हम आस लगाये हुए थे। एक-एक किसान ने मानो पसीना सुखाया तब आकार मीठी घास की ये रसभरी छडे तैयार हो सकी थी। किसी को सौ, किसी को दो सौ और किसी को पाँच-पाँच सौ तक मिलनेवाले थे, इन पैसों के बलपर जामिल-जमींदार को हम अभी से अँगूठा दिखाने लगे थे। धान की सैंकडों मन फसल मिलिटरी के कब्जे में थी और गन्ने की खडी खेती पर इस तरह का संकट मंडरा रहा था। वे लोग चले गये थे मुझे देर तक नींद नहीं आयी।''[26] इस मुसिबत में बलचनमा फसते जा रहा था।

'बाबा बटेसरनाथ' उपन्यास में किसानों की फसलें किस तरह बर्बाद होती हैं और आर्थिक विपन्नता का सामना उन्हें करना पडता हैं। नागार्जुन ने इस खेती का इस तरह चित्रण किया है, ''मकई,मंडुआ, साँवो -कावन की खडी फसले चौपट हो गयी। धान का बोआर (अंकुर) पानी के

अन्दर पडकर सड गया। रोपे हुए धान के पौधे बर्बाद हो गये। गम्हडी, आऊंस, गद्दड वगैरह भदैया धान की तैयार खेती किसी काम की न रही।''[27] यहाँ स्पष्ट है फसले बरबाद होने की वजह से किसानों को अनेक समस्याओं का सामना करना पडता है यही वास्तविकता है।

'नई पौध' उपन्यास में किसानों की स्थिति कितनी अच्छी थी इसके बारे में एक दृष्टव्य है, ''इस बार धान की फसल खूब अच्छी थी। हरे-हरे पौधों के बादामी - भूरे - धूलिया शीश आये थे। धान के फूलों की भीनी और जमी खुशबू बीतते क्वाँर की सलोरी सिहरन में शरद की अनमोल ताजगी भर रही थी। किसान मस्त होकार सबेरे-श्याम अपने-अपने खेतों की परिक्रमा कर आते थे। निचली जमीन से खेसाडी और मटर की बुवाई चल रही थी। उपर तो खेतों में लोग जो चना, मसूर तीसी वगैरह बो रहे थे।

बुलों के पास रब्बी की फसल के लायक जमीन नहीं के बराबर कहिये। पाँच सात कठ्ठा जमीन भी क्या लेखा-लायक जमीन कहलाएगी ?''[28]

'रतिनाथ की चाची' उपन्यास में किसानों के स्थिति के बारे में जिक्र करते हुए नागार्जुन ने वहाँ के जमीन, फसल, जमींदारों के किसानों पर अत्याचार तथा किसान आन्दोलन का लेखा-जोखा दिया हैं जैसे कि, ''चुम्मन झाके पच्चीस बीघा जमीन भी उपजाऊ। चार सौ मन धान साल-साल होता था। एक बडा-सा कलमी आम बाग था, पचासों पेड थे। मालदह, कृष्ण भोग, अंबइया फंजली, शाहपसंद राढ़ी, जर्दा सब थे। चुम्मन झाँ पाँच पेड छोडकर बाकी खत्तीकों के हाथो बेच लिया करते।''[29] ''चार सौ, पाँच सौ कभी छ सौ तक मिल जाता। इस तरह आम भी इनके लिए एक अच्छी फसल थी।''[30] यहाँ स्पष्ट है भारतीय ग्रामीण समाज जीवन में खेती ही सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु रही है।

'आर्थिक समस्याओं के कारण किसान अपने खेत जमींदारों सेठ साहूकारों के पास गिरवी रखते थे या बटाई पर देते थे। गृहस्थी के लिए उपयुक्त सब कुछ था, लेकिन करनेवाला कोई नहीं था। जयनाथ कामत खेती-बाडी में लगता तो घर की यह हालत न रहती ? सारे खेत बटाई पर लगे हुये थे।'[31] 'राजा बहादूर ने दबंग समझकर मनखपवाले दस बीघा खेत जयदेव को लिख दिया, सिर्फ छः सौ रूपये लेकर। मालूम होने पर किसान गुस्से के मारे पागल हो गये। मगर अन्दर के घूसघोर और उपर के पूरजोर कुछ किसान सेवकों ने उलटा-सीधा समझाकर उन्हें शांत कर दिया। जिला किसान सभा के एक प्रमुख नेता रमापति झा परसोनी के रहनेवाले थे। उन्होंने तीन साल तक

एडी-चोटी का पसीना एक करके राजा बहादूर के रैयतों को जगाया था। और अब उनके मुँह से लार टपने लगी। उन्हें चौदह बीगा जमीन मिली, बारह सौ का कर्जा माफ हो गया।'[32] जमींदारों के विरोध में किसान वर्ग एक होकर किसान आन्दोलन, किसान सभाओं का आयोजन होता था। 'ताराचरण को किसान आंदोलन के आरम्भ में ही अखबार पढ़ने की चाह लगी और वह 'दै. आज' का नियमित ग्राहक एवं समझदार पाठक हो गया हैं। किसान सभा के नाम पर चाची ने भी थोडा-थोडा करके चन्दा दिया था।[33] अत: ग्रामों में भी आज शिक्षा प्रसार के कारण नवचेतना का निर्माण धीरे-धीरे हो रहा है।

यहाँ स्पष्ट है मिथलांचल का किसान खेती पर निर्भर है। अज्ञान, शोषण का शिकार तथा परंपरागत पद्धति से खेती कर रहा है। उनपर जमींदार, पूँजीपतियों का प्रभाव है, अब उनमें चेतना का निर्माण होना परिवर्तन का प्रतिक है। 'रतिनाथ की चाची' के किसानों का संगठित होना, आंदोलन करना, किसान सभा का आयोजन करना आदि घटनाएँ इसका प्रमाण है। लगता है नागार्जुन ने किसानों की यथार्थ स्थिति पर प्रकाश डाला है। जब किसान जाग उठेगा, अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करेगा, फसल को सही दाम मिलेगा तो किसान की जिन्दगी खुशहाल बनेगी, देश के लिए ऐसा होना लाभकारी है, यही संदेश दिया है।

2.4.2 शिक्षा प्रसार :-

शिक्षा यह एक ऐसी व्यवस्था है जिस पर मानव, गाँव, समाज, राज्य, राष्ट्र का विकास निर्भर हैं। जिस देश में शिक्षा का प्रसार अच्छी तरह से हो रहा है वह देश विकास की ओर बढेगा तथा जो देश इसके विपरीत परिस्थितियों से गुजर रहा हैं वह पिछडा रहेगा। देखा जाए तो शिक्षा के क्षेत्र में हमारा देश पिछडा है। नागरी समाज की अपेक्षा ग्रामों में शिक्षा का प्रसार कम हुआ हैं। आजादी मिलने के बाद अपनी सरकार आयी। भारत सरकार ने शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार के लिए अनेक योजनाएँ बनाई। परन्तु उसका विशेष असर ग्रामीण जनजीवन पर नहीं पडा। ग्रामों में गरीबी, बेरोजगारी और अज्ञान के कारण लोग शिक्षा के प्रति आकर्षित नहीं हुए। वे अपने दादा, परदादा के अनुभव और व्यवहारों से अपनी रोजमर्रा जिन्दगी जी रहे थे। सरकार अपनी ओर से तो शिक्षा प्रसार की अनेक योजनाएँ कार्यान्वित कर रही हैं लेकिन वह योजनाएँ ग्रामों तक नहीं पहुँच रही है इसके अनेक कारण है, जैसे की यातायात की असुविधाएँ, वहाँ का भौगोलिक, प्राकृतिक परिवेश, गरीबी, बेराजेगारी, लोगों की शिक्षा के प्रति अनास्था, अज्ञान, अंधविश्वास, अंधश्रद्धा, ग्रामों का अविकसित

BARR. BALASAHEB KHARDEKAR LIBRARY
SHIVAJI UNIVERSITY, KOLHAPUR.

रूप आदि। ग्रामों के लोग इन्हीं कारणों से अपने बच्चों को पाठशाला नहीं भेजते। बच्चों का पाठशाला न आने से पाठशालाएँ बंद हो रही है। जो बच्चे स्कूल जाते हैं उन्हें भी शिक्षा के प्रति विशेष आस्था नहीं हैं न लगाव न आत्मीयता। इस परिस्थिति के लिए अध्यापक वर्ग ही जिम्मेदार हैं। अध्यापकों की देहातों के प्रति उदासिनता, बच्चों को मन लगाकर न पढाना, बच्चों को शिक्षा तथा अनुशासन का महत्त्व ठिक तरह से न समझाना। इन कारणों से पाठशाला की स्थिति खराब होती जा रही हैं, अगर इस तरह से परिस्थिति में सुधार आया तो एक दिन लोगों का शिक्षा से ही विश्वास उठ जायेगा।

प्राचीनकाल से शिक्षा के क्षेत्र को पवित्र माना गया है, आज भी मानते हैं। आज शिक्षा जैसे पवित्र क्षेत्र में राजनीति ने खुले आम प्रवेश किया है। नेताओं ने अपनी अपनी पाठशालाएँ खोली है और वह एक उनका राजनीति का अड्डा बन गया हैं। नेता या राजनीतिज्ञ मुनाफाखोरी को अपना धर्म और कर्म मानते हैं। इस संदर्भ में डॉ. आशा मेहता ने कहा है, ''आज की शिक्षा संस्थाएँ घृणित राजनीति का अखाडा बन गई हैं।''[34] लगता है राजनीति हर क्षेत्र में अपना रोब जमाए बैठी है।

ग्रामों में पाठशाला की अवस्था आज खराब है। वहाँ के लोग अज्ञानी होने के कारण शिक्षा को अधिक महत्त्व नहीं मिलता। गाँव में स्कूल शुरू तो होते है पर बच्चे न आते, न अध्यापक भी ठिक समय पर आते वे अपनी जिम्मेदारियों से दूर हैं। राजनीतिक लोग स्कूलों में उन अध्यापकों की नियुक्ति करते हैं जिन्हें ठिक ढंग से पढाना भी नहीं आता। ग्रामो में स्कूल की इमारतें अच्छी नहीं होती। आज भी हमें सुनने को मिलता है अमूक स्कूल की दीवार गिरकर कहीं बच्चों की जान गयी और इसके लिए मंत्रालय ही जिम्मेदार हैं। भौतिक सुविधाओं के अभाव के कारण शिक्षा व्यवस्था चरमरा गई है।

आज भी हम देखते हैं ग्रामीण लोगों को गरीबी के कारण अपने बच्चों को स्कूल में दाखिला लेना मुमकीन नहीं हो रहा है। रोजमर्रा की जिन्दगी में ठिक तरह से रोटी, कपडा और मकान नसीब नहीं होता उपर से ये लोग बच्चों की पढाई का खर्चा क्या करेंगे ? इसलिए वह चाहकर भी बच्चों को नहीं शिक्षा दे पाते। लेकिन सरकार ने आज ग्रामोद्धार और ग्रामों के विकास अभियान में शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार पर अधिक बल दिया है। सरकार ने ग्रामों में प्राइमरी स्कूल और हाईस्कूल खोल दिए है। साथ-ही-साथ प्रौढ़ शिक्षा जैसे अभियान चलाए जा रहे हैं। बच्चों को छात्रवृत्ति, आवास व्यवस्था, दोपहर का खाना, मुफ्त शिक्षा, नियमित आनेवाले बच्चों को वित्तिय सहाय्यता, मातृभाषा

में शिक्षा, पाठ्यक्रम आदि सुविधाएँ उपलब्ध करायी जा रही है। हमें स्पष्ट दिखाई दे रहा हैं कि ग्रामों के लोग धीरे-धीरे उदासिनता छोडकर गरीबी से जूझते हुए भी अपने बच्चों को स्कूल भेजने लगे हैं। इस प्रकार ग्रामों में लोग शिक्षा के प्रति सजग हो रहे हैं। अपने बच्चों को अध्यापक, डॉक्टर, इंजिनियर, वकील बनाने के खाँब देखने लगे है। लेकिन शिक्षा संस्थाओं में नेताओं की मनमानी है। स्कूलों मे अध्यक्ष स्वयं नेता या उनके रिश्तेदार हैं वे अध्यापकों की नियुक्ति करते समय, अध्यापकों की तनखा, इमारत निर्माण खरीददारी आदि में भ्रष्टाचार कर रहे है। इन भ्रष्ट नेताओं का बुरा असर बच्चो और अध्यापकों पर हो रहा है। अत: सच्चे रूप या अर्थ में शिक्षा का प्रसार और प्रचार सही ढंग से हो रहा हैं या नहीं ? यही सवाल है।

'बलचनमा' (1952) उपन्यास में "फूल बाबू ओकालत पढते थे। साथ ही एम.ए. में भी नाम लिखाए हुए थे। हमारा काम था भोरे-भोरे उठाना, चूल्हा जलाकर चाह का पानी चढ़ा देना। यह सब उन्होंने मुझे दो ही चार दिनों में सिखाया था। चाह पीकर सात बजे वह लॉं कॉलेज चले जाते।"[35] शिक्षा के प्रति कितनी आस्था फूल बाबू को हैं यह यहाँ स्पष्ट होता है।

आज शिक्षा के प्रति उदासिनता और राजनीति के प्रति लगाव हैं। एक दृष्टव्य - "कॉलेज से नाम कट गया था। गाँव-घर जाने का तो नहीं, मगर दरभंगा जाकर कांग्रेस का काम करने का विचार वह करने लगे। मोहन बाबू बीच-बीच में आते और देर-देर तक गपशप होती। मैं उजबुक-सा उनकी बातें सुना करता। अपने मालिक और मोहन बाबू की मेहरबानी से अच्छरों में मात्रा लगाना अब मैं तो सीख गया था। क -ट - च- ट कर के बच्चों की पोथी में बाचने लगा गया था।"[36]

"राधा बाबू आशरम में महंथ थे। बहुत पढे लिखे थे। भागलपुर और कलकत्ता में रहकर अपनी पढ़ाई उन्होंने पूरी की थी। पूरी क्या की थी, पार पहुँचते पहुँचते किनारा छोड दिया था। थोडा-सा और पढ़ते तो परफेसर हो जाते। धन-दौलत कि तो कोई कमी भी नहीं, विलेत भी जा सकते थे आग़र बालिस्टर भी हो सकते थे। लेकिन बीच में ही दिमाग बदल गया।"[37]

स्कूलों की स्थिति तथा छात्रों की स्थिति भी कुछ अच्छी-खासी नहीं थी। जैसे की, "आश्रम के बारह बस्ती (धरहमपूरी) के इसी तरफ एक स्कूल था। उपर प्राइमरी स्कूल। राधा बाबू के बाप ने खुलवाया था। उसमें चार मास्टर थे। पढ़नेवाले लडकों की कोई कमी नहीं थी। आस-पास के गाँव से आकर सत्तर के लगभग विद्यार्थी वहाँ पढ़ते थे। खास इस गाँव के बीस-एक लडके थे। भींते

मजबूत और मोटी दो बीना बाहों की कुर्सिया, एक स्टूल, एक छोटी चौकी। सामने लम्बी फूलवाडी। उसी के बीचो-बीच स्कूल को आनेवाला महरादार रास्ता। गेंदा के लाल-पीले फूल वहाँ इतने अधिक घिले हये थे कि कुछ मत पूछो। स्कूल उँची जमीन पर था। हमारे आश्रम से स्कूल ही नहीं फूलवाडी तक दिखलायी पडती थी। मालिक ने अपने बच्चों के नाम इसी स्कूल में लिखवा दिए, लडकी का भी। लडकियाँ वहाँ तीन ही चार आती थी। तुमसे क्या छिपाना है भैया हमारे तरफ जनाना लोग पढ़ी-लिखी नहीं होती हैं। अब दरभंगा, मधुबनी जैसे शहरों में मास्टरनी, डॉक्टरनी दिखाई पडती हैं। देहात में कहीं-कहीं लडकियों का स्कूल देखोगे, मगर भैया इतना से क्या होता जाता है ? जब लडकियाँ भी लडकों की तरह पढ़ी लिखी होने लगेंगी तभी इस मुल्क का उद्धार होगा।''[38] लगता है अब लडकियाँ पढ़ाई में आगे आ रही है इस पर नागार्जुन ने प्रकाश डालाकर परिवर्तित शिक्षा व्यवस्था का यथार्थ चित्रण किया है। यह एक अच्छा संकेत है।

'बाबा बटेसरनाथ' (1954) उपन्यास में शिक्षा लेना सब कुछ आसान हो जाता हैं। इसका चित्रण दृष्टव्य है, - एक बार पडोस के गाँव का एक विद्यार्थी आया था। वह पटना में इंजिनियरिंग की पढ़ाई करता था। इस वनस्पति को देखकर उसने लोगों से कहा- ''साइंस ने अब असम्भव को सम्भव बना दिया हैं, रूस के इंजिनियर पुराने से पुराने पेड को जड-मूल समेत उठाकर एक से दूसरी जगह लगा देते हैं। हो सकता हैं कि आगे चलकर हम भी इस वृक्षराज को सीधा करने की कोई तबदील निकाल ले ...।[39] यहाँ पढ़ाई की महत्ता स्पष्ट होती है।

''दह कोस पर मधुबनी जैसा कस्बा था। एक मिडिल स्कूल था, संस्कृत की एक पाठशाला थी। मौजे रूपउली सीमा के अन्दर ही आधा कोस के फाँसले पर चार वर्ष पहले हायस्कूल भी खुल चुका था। बडी जात वालों के लडके काफी तादाद में पढ़ रहे थे। मैंट्रिक पास करके दासियों, तरूण कर्म क्षेत्र में प्रवेश कर गये थे। दो वकील, दो प्रोफेसर, एक डिप्टी मजिस्ट्रेट, एक फॉरेस्ट अफसर, एक लोको इंजिनियर और एक इन्कमटैक्स का जिला अफसर रूपउली के आठ सपूत बडे ओहदों पर विराजमान थे।''[40] इस गाँव में जैनरायन के चाचा ने अंग्रेजी पढ़ी। घर से चावल और दाल दरभंगा पहुँचाये जाते, खुद रसोई करके बेचारा खाता-पिता। उन दिनों पटना में युनिवर्सिटी नहीं थी। बिहार बंगाल के अन्दर ही था। सन 1905 ई. में कपिलेश्वर ने मैट्रिक पास की और दो साल बाद मुखतार बन गया वह। लहेरियासराय की अदालत में मुकादमों की पैरवी करने लगा। चार छ वर्ष बाद तो जैनरायन का चाचा चमक उठा। लहेरियासराय के अच्छे मुक्तारों में उसकी शुमार होने

लगी।''[41] सुतरी से दृढतापूर्वक कहा, ''हा जैकिसुन की माँ। मैं अब हनुमान चालीसा अपने आप पढ़ लेता हूँ। टिसन पर मौसाफिरखाने में रंग-बिरंगे कागज चिपके हुए थे। उपर मोठे-मोठे आखरों में बहुत कुछ लिखा था। एक कागज से चार पाँती और दूसरे से दो पाँती मैने खुद बाँच ली, पूछ लो न जीतू से ?''[42] इससे स्पष्ट होता है की ग्रामों में भी धीरे-धीरे लोगों की शिक्षा के प्रति उदासिनता कम होती जा रही हैं, और लोग शिक्षा को महत्त्व दे रहे हैं।

'नई पौध' उपन्यास में ''रामेसरी ने ममता का मक्खन और स्नेह की सुधा खिला-पिलाकर बिसेसरी को पाला-पोसा था। बडे ही जतन से उसने लडकी को अपर प्रायमरी तक शिक्षा दिलवाई थी।''[43] लोगों को अपने बच्चों को चाहे लडका हो या लडकी उसे शिक्षा देनी चाहिए यह बात समझ में आयी है। स्कूलों की स्थिति के बारे में एक दृष्टव्य - ''जबार में ही हायस्कूल खुल गया था, मिडिल स्कूल तो खैर पाँच कोस के उस इलाके में अब तीन थे। गाँव में अप्पर प्रायमरी स्कूल था, संस्कृत पाठशाला भी थी। पढ़े-लिखे लोग नजदिक और दूर के शहरों में नौकरी कर रहे थे।''[44] ''उनके अपने ही कहने के मुताबिक दिगंबर की हिसाबी कमजोरी पैतृक नहीं, मातृक थी। उसके नाना याने निलकंठ बाबू के ससूर श्री यदुनन्दन लाल मैथली और पुरानी हिन्दी (ब्रजभाषा- अवधी) के सुकवि थे, आप ललित किशोर उपनाम से अपने इलाके में प्रसिद्ध रहे - उन दिनों बिहार बंगला के अन्दर था, युनिवर्सिटी कलकत्ते में ही थी, लालजी तीन बार मैट्रिक में फेल हुए थे, तीनों बार गणित में ही गिरे थें।''[45] पदमपूरा के पास ही एक गाँव था मढिया। अपने मिडिल स्कूल के लिए आस-पास के इलाकों में यह वस्ती बहुत दिनों से नामी थी। मिडिल के दो साल दिगंबर यही का विद्यार्थी रहा। यो तो कहीं साथी थे उन दिनों के मगर बाचों से घनिष्ठता हुई सो हद् के पार कर गई थी। अलग रहने पर भी वर्षो तक दोनों मे पत्रव्यवहार चालू था।

''वाचस्पति और दिगंबर दोनों ने 42 में सांतवाँ दर्जा यांनी अंग्रेजी - मिडिल पास की थी। बाचों को पंद्रह रूपये मासिक छात्रवृत्ति मॅट्रिक तक (चार साल) वह मिलती रही। 46 में वाचस्पति ने मैट्रिक की डिवीजन में सेंकड आया था। दिगंबर तो खैर 44 में ही फेल होकर पढ़ना छोड बैठा था।''[46] लगता है अब गाँवों में शिक्षा-दीक्षा का प्रसार हो रहा है।

बच्चे खुब पढ़ लिखकर कुछ नाम कमाये यहीं हर माँ-बाप का सपना होता हैं। इसका चित्रण 'रतिनाथ की चाची' में हुआ है। ''जयनाथ को अब यही महत्वकांक्षा थी की लडका पढ़ लिखकर अच्छा पंडित बने। रतिनाथ भी पढने में खूब तेजा था। उसका मन भी हिन्दी-अंग्रेजी पढ़ने

में लगा रहता मगर जयनाथ मास्टर की फिस देने में अनाकानी करते। जयनाथ को पता चला की चार-पाँच रूपये सिर्फ किताबों में ही चल जायेगा तो तय किया कि रतिनाथ को खाली म्लेच्छ भाषा पढ़ायेंगे।''[47] ''शुभंकरपूर की उस छोटी-सी पाठशाला में नियमित रूप से पढ़नेवाले लडकों की तादाद तेरह थी। उसमें से पाँच शब्द रूपावली, धातु रूपावली और अमरकोश पढ़ रहे थे। प्रायमरी स्कूल में तीस पैंतीस लडके थे। वहाँ का अनुशासन काफी कडा था।''[48] मुन्शी जयवल्भलाल टिचर थे। इससे ग्रामों में स्थिति शिक्षा व्यवस्था की स्थित, गति स्पष्ट होती है।

'रतिनाथ की चाची' में शुभंकरपूर में शिक्षा प्राप्ति का अधिकार ब्राह्मणों ने अपने पास ही रखा है। क्षुद्र संस्कृत के स्तोत्र याद नहीं कर सकता। कुली राऊत को संस्कृत के कही स्तोत्र याद हैं। कहते संकोच होता है - गायत्री भी उसे आती थीं। संकोच इसलिए कि जिस गायत्री के लिए ब्राह्मण बटुकों का उपनयन संस्कार होता हैं, जो सिर्फ द्विजों की चीज हैं, उस महान प्रणव को एक शुद्र जान जाय, यह असह्य है। जाने कैसे ? उसने सीख ली थी। ऐसे निम्न जाति के कुल्ली राऊत को ब्राह्मण कैसे सहन कर सकते है ? जयनाथ को किसी ने इसके बारे में बताया तो वह फुफकार उठा, ''सालों की चमडी उधेड लूँगा। शुद्र है तो शुद्र की भाँति रहे।''[49] शुद्र की दयनीय स्थिति पर यहाँ प्रकाश डाला है। जाति व्यवस्था, भेदाभेद नीति के कारण, सामान्य एवं शुद्र अशिक्षित, अज्ञानी है, परिणामत: उनका शोषण बढ़ रहा हैं। निम्न जाति को उच्च जाति के समान अधिकार मिल जाते तो वे पढ़ लिखकर समाज में अच्छी स्थिति प्राप्त कर लेते, और उनका शोषण नहीं होता। उन पर अत्याचार नहीं होते। यहाँ स्पष्ट रूप से दिखाई पडता हैं कि गांवों में उच-निचता का भेदभाव रहा है। इससे ग्रामीण शिक्षा व्यवस्था में समस्या निर्माण हो रही है, परिणामस्वरूप ग्रामों का विकास जिस रफ्तार से होना चाहिए उस रफ्तार से नहीं हो रहा है।

2.4.3 अंधविश्वास :-

भारतीय समाज व्यवस्था को अंधविश्वास ने खोखला कर दिया हैं। ग्रामीण लोग अज्ञान और अंधश्रद्धा से भूत-प्रेत, चुडैल, डायन आदि पर विश्वास करते हैं। भारतीय समाज व्यवस्था को सुचारू रूप में बाँधने का कार्य धर्म करता है। धर्म का मूल तात्पर्य है कि, विश्वास रखना। भारतीय समाज में ईश्वर का महत्त्वपूर्ण स्थान है। दर्शनशास्त्र के विद्वान इसे 'ईश्वरवाद' मानते हैं तो वैज्ञानिक इसे अंधविश्वास। भारत के ग्रामों में लोग अज्ञानी, अशिक्षित और धार्मिक होने से वे परम्परागत रूढ़ियों, मान्यताओं का पालन एवं रक्षण करते हैं। इसलिए उनमें अंधश्रद्धा निर्माण हुई हैं। भारतीय

समाज में अज्ञान कूट-कूट कर भरा हुआ हैं, वे भोले-भाले और अशिक्षित हैं इसलिए भूत-प्रेत, मंत्र-तंत्र, जादू-टोना, शकुन-अपशकुन, बिल्ली का रास्ता काटना, उल्लू का मुँह न देखना, विधवा का मुँह न देखना आदि पर विश्वास करते हैं। अंधविश्वास के कारण ही वे इसे मानते हैं। इस संदर्भ में शरयूजी ने कहा है, ''मानव जीवन और जगत में होनेवाली घटनाओं का सम्बन्ध कल्पना की मदद से अति लौकिक, अति नैसर्गिक शक्ति के साथ जोडकर इनके प्रति विश्वास, श्रद्धा की भावना रखता हैं, पूजा-पाठ, यज्ञ में जाल बना देना, उसे धर्म संस्था माना गया है।''[50] ग्रामीण लोग धर्म को मानते हैं और इस कारण उनमें अंधविश्वास की प्रवृत्ति अधिक रही है। वैज्ञानिक युग में इतनी प्रगति हुई हैं, लेकिन उसका प्रचार और प्रसार शहरों तक सीमित रहा हैं, ग्राम इससे वंचित रहे है। इसलिए ग्रामों में रहनेवाले लोग ज्ञान और अंधश्रद्धा से काल्पनिक या मनगढ़त बातों पर विश्वास रखते हैं। केवल अंधविश्वास के कारण ग्रामों में बसे लोग भूत उतारने, चुडैल को भगाने पर न जाने कितने पैसे बरबाद करते है, कष्ट उठाते हैं। अज्ञानी ग्रामीण लोग किसी घटना या प्रसंग का सही ज्ञान न होने पर, अज्ञान और अंधविश्वास से उसका सम्बन्ध भूत-प्रेत से जोड देते हैं।

भारतीय समाज अज्ञान, अंधविश्वास जैसे जंजीरों में जकडा हुआ है। आज धीरे-धीरे आधुनिक शिक्षा के व्यापक प्रचार-प्रसार से धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा उदारतावादी दृष्टिकोण अपनाया जा रहा है। डॉ. तेजसिंह का कथन है - ''आधुनिक शिक्षा के प्रचार-प्रसार का परिणाम था कि, भारतीय समाज में धार्मिक रूढिया, रीति-रिवाज, परम्परा, अंधविशवास, जाति-पाँति, धार्मिक भेदभाव, छुआछूत, बिमारी, शोषण, विधवा समस्या, बाल विवाह, आदि सामाजिक कुरीतियों और बुराइयों पर प्रहार होने लगे थे।''[51] भारतीय समाज ज्यादातर ग्रामों में बसा हुआ हैं। यह लोग अज्ञान रूपी मायावी नगरी में रहने से नगरों में जो आधुनिकरण हो रहा है, इससे यह लोग अपरिचित हैं। भारतीय ग्रामीण समाज का अन्त:संघर्ष मूलत: रूढ़िवादी, परम्परागत मान्यताओं-संस्कारों धार्मिक अन्धविश्वासों और सामाजिक कुरीतियों और बुराइयों आदि का समर्थन करनेवाले प्रतिक्रियावादी और उनका विरोध करनेवाली प्रगतिशील शक्तियों का संघर्ष है। अंधविश्वास में विश्वास, श्रद्धा की भावना है जो बिना सोचे समझे व्यक्त की जाती है। 'अंधत्व' का वही भाव है परिणामत: कही समस्याएँ निर्माण हुओ है। सामाजिक समस्याओं के मूल में अंधश्रद्धा और रूढ़ियों का पालन करना है। ग्राम का अर्थ भी विश्वास, श्रद्धा ही है। कमजोर, मानसिक, स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा, धर्म के प्रति अज्ञान, मतलबी धार्मिक व्यक्ति के कारण अंधविश्वास को बढ़ावा मिल रहा है ऐसा लगता है।

'बलचनमा' (1952) उपन्यास में बलचनमा भूत-प्रेत पर विश्वास करता हैं। इस संदर्भ में बलचनमा कहता है - "पहले दिन सुबह-सुबह भैस को लेकर मैं चराने गया। उस समय काफी सबेरा था। मुझे डर लगा। दादी के मुँह से भूत-प्रेत की कहानियाँ सुनी थी। गाँव के बाहर का हर बूढा पीपल या बरगद मेरे लिए भूतों का रैंन-बसेरा था।"[52] इस प्रकार अंधश्रद्धा से काल्पनिक या गढ़ी हुई मनगढ़त बातों पर विश्वास करता हैं। लगता है लोककथा, सुनी बातों का संबंध भूत-प्रेत से होने से यह भाव बढ़ता है। "उन आठ खूँटों में बैल बांधे जाते थे। बैलों की सेवा मुझे नहीं, हलवाहों को करनी पडती थी। गाय वहाँ एक भी नहीं थी। बडे घरों में गाय रखना दरिद्दर समझा जाता है। जिन्हें भगवान ने पालने-पोसने की सामर्थ्य दी हैं, उनके यहाँ भैंस ही पाओंगे।"[53] यह भी एक अंधविश्वास का प्रमाण हैं। भूत को भगाने के लिए मांत्रिक को बुलाना ग्राम जीवन की विशेषता है। इसका चित्रण बलचनमा में हुआ है। इसका उदाहरण देखिए - 'तीन बार बुलाने पर वह आते। दच्छिनवाले घर में उन्हें बैठने को कहा जाता मलिकाइन उनसे परदा करती थी। बडे मालिक की लडकी का नाम जयमंगला ! वह बालविधवा थी। देखने में खुब सुन्दर थी। साँवली ! बडी-बडी आँखों वाली। उसे ऐसे समय बुलाया जाता वह बिच वही काम करती। चूहें के बिल की मिट्टी, पुराने-पुराने बिनोले तोडे हुए कश के तिनके चार बूँद गंगाजल, पीपल के सुखे पत्ते .... इतनी चीज मिलाकर दामो ठाकूर भूत झाडना शुरू करते। थोडी देर बाद किवाडा खुलता। लेकिन किसी को अन्दर जाने का साहस नहीं होता। थोडी देर बीतने पर पसीने से लथपथ दामों ठाकूर बाहर निकलते और यह कहते हुए आँगन से निकल जाते कि - नौकरानी का मिजाज ठीक कर दिया है, बडा जबरदस्त भूत था, मुश्किल से काबू में आया अभी थोडी देर जयमंगला को अकेली छोड दो।।"[54] भूत-प्रेत-डायन की शिकार नारी रही है इसके मूल में नारी की कमजोर मानसिकता है। मांत्रिक को भगवान का अवतार माना जाता है उसके खिलाप न बातें होती है न कर्म ऐसा करने का कोई साहस करे तो अधर्म माना जाता है - इसका एक प्रसंग देखिए - "माँ इन बातों को नहीं समझती थी, उसको मांत्रिक लोगों पर बडा ही भरोसा था। समझाने-बुझाने पर भी वह यहीं कहती कि पानी में रहकर मगर से बैर ! जिन लोगों का जूठन खाकर तू बडा हुआ है उन्हीं के बारे में ऐसी-ऐसी बाते सोचता हैं? अधरम होगा रे बलचनमा अधरम ! भगवान नाराज हो जायेंगे। शहर जाकर यहीं इलम सींख आया हैं।"[55]

ग्रामों में अगर दोपहर के समय कोई बेहोश हुआ, चिल्लाने लगा, तो उनकी मान्यता थी की भूत लग गया हैं - ऐसा ही चित्रण यहाँ हुआ है - "मैयाँ रे मैयाँ चिल्लाती हुई रेबनी भागी तो मालिक

ने उल्टे चिल्लाकर कहाँ - "कहाँ गई बलचनमा की माँ तेरी लडकी को तो भूत लग गया है। एक हाथ में हसियाँ और दूसरी हाथ में छिली हुई लौकी की फाँक लिए माँ दच्छिनवाले घर से बाहर निकली तो रेबनी बेतहासा दौंडी और उससे चिपट गई। गे माँ गे माँ। कि वह सैतान भी अंगन में कुछ दूर बढ़ आया था और सूखे गन्ने से बुरी तरह खिल-खिल रहा था।"[56] भागना, चिल्लाना, दौडना जैसी भयावह हरकतें करना, भूत-पिशाच्च, डायन का प्रतीक माना गया है। अगले जन्म पर अंधविश्वास रखना यह भी लोगों की मनोवृत्ति है - जैसे - "बिजली की मूँठ से पीठ खुजलाती थी हुई खोली दूर मुडहा महिना देढ़ महिना भी यह बैल अब काट सकेगा ? मरेगा तो अगले जनम तेरा ही हल बहेगा। घास खिलाई है, आय नहीं रखेगा ? ही. ही. ही. ही. ।"[57]

'बाबा बटेसरनाथ' (1954) उपन्यास में एक दृष्टव्य - "बाकी सब तरफ से निराश होकर तेरा परदादा बाबा बालेश्वरनाथ के सामने जाकर लम्बा पड गया। रोती-भर्राती आवाज में गुहर मचायी - दुहाई बम्भोले नाथ की। अब तेरा ही एक आसरा है। जब तब गुजराती निरोग होगी तब तक मैं तेरे सामने से नहीं हटूँगा।"[58] बरगद बाबा का एक कथन - "मेरी छाया में बैठकर तेरी इस बस्ती रूपउली के बाह्मणों के मिट्टी के ग्यारह लाख शिवलिंग बनाये और उनकी सामूहिक पूजा की उन्होंने फिर भी मेघ की कृपा नहीं हुई - नहीं हुई। नहीं हुई। नहीं हुई !!!"[59] ग्वालो-अहिरों और धानुकों ने यही चार दिनों तक भुईया महाराज का पूजन किया, दस भेंडे बलि चढायी और दो जवान भाव खेलते-खेलते लहुलुहान होकर गिर पडे थे, फिर राजा इन्दर खुश नहीं हुआ - नहीं हुआ। नहीं हुआ !!"[60] ऐसा ही एक उदाहरण है - "सावन में टुनाई का पोता साँप के काटने से मर गया। लोगों ने कहना शुरू किया : विघाता से नहीं देखा गया, आखिर बेईमान को उन्होंने चेतावनी दे डाली।"[61]

अज्ञानी ग्रामीण लोग किसी घटना या प्रसंग का सही ज्ञान न होने पर अज्ञान और अंधविश्वास से उसका सम्बन्ध किसी भी बात से जोड देते हैं - "जद्दू पाठक की नजर मुझ पर बहुत दिनों से थी। वह जिस वर्ष मरा, महिनें में दो बार गाँव में आग लगी थी। बुढ्ढे को ब्रह्म ने सपना दिखाया ... तीसरी बार जो आग उठेगी वह तेरे ही घर से उठेगी और समूची बस्ती को खाक कर डालेगी, अग्निकांड के बाद महामरी को बुलाऊँगा में। समझ क्या रखा हैं तुने ?"[62] 'और माहोल तो देख, इस बलि के लिए घेर घाटकर बकरे से उसकी खुद की मंजूरी ले ली जाती! यानी, जब तक उसके मुँह से 'में - में' की आवाज नहीं निकलवा लेते तब तक बकरे की गर्दन पर हथियार नहीं पडता।"[63] ग्रामों में शादी ब्याह के बारे में कुछ अंधविश्वास हैं - "जद्दू के लडके मद्धू की शादी पचपन वर्ष की

आयु तक नहीं हुई। वह अपने बरहम बाबा को पाँच बार बकरे की बलि दे चुका, तब भी कोई लडकी वाला उसे पूछने नहीं आया। अब अपने खानदानी ब्रह्म के बारे में मध्दू की श्रद्धा डिगने लगा। ज्योतिषी, साधू-संत, ओझागुनी, ओघड, औलिया जो भी मिलता, उसे मध्दू अपनी शादी की बात पूछा करता।''[64]

'नई पौध' (1953) उपन्यास में ''खोखा पंडित ने आधा घंटा बातचीत कर चुकने पर पाया कि आदमी काफी अबकाली है। उमर जरा ज्यादा हैं, तो क्या हुआ ? कम उमर के लोग क्या नहीं मरते है ? बाबा बैद्यनाथ की अनुकंपा होगी तो इसी दूल्हे के घर बिश्वेसरी की कोख से एक से एक इस संतान हो सकती हैं।''[65] ग्रामों के लोग पाप-पुण्य, जन्म-पूर्वजन्म पर अंधविश्वास रखते हैं लोटा लेकर बच्चन चला गया तो हाथ जोडकर पंडितजी बोले ''बाबूसाहेब यह तो कुछ हुआ हैं सब मेरे ही पापों का फल समझिए। अवश्य ही पूर्वजन्म में मैंने कोई भारी प्रत्यवाय किया होगा।''[66] और भी कुछ संदर्भों के जरिए अंधविश्वास पर प्रकाश डाला है।

बिसेसरी का ब्याह टूट जाने पर टुनाई और समूचा परिवार हाथ जोडकर भगवान से मनौतियाँ मनाता था, कि ''चाहे जैसे भी हो बिसेसरी का ब्याह अगहन के लगन में हो जाये।' बिसेसरी को भी लगता था की बीस या पच्चीस साल का दूल्हा मिल जाये तो वह चाँदी की छोटी-सी खुबसुरत बसुली (बाँसूरी) गढवायेगी और कन्हैया के हाथों में थमा देगी। यहाँ हमें धार्मिक अंधविश्वास के दर्शन होते हैं। गाँव में आसिन के महिने में पितर पच्छ और मातृनवमी के दिन आते हैं। मातृ नवमी के दिन अपनी-अपनी माँ, नानी, सास, दादी, और परदादी के लिए प्रति एक ब्राह्मम को भोजन खिलाया जाता है। ''पंडिताईन ने अपनी नानी सास और सतिया सास के लिए ब्राह्मणों को न्योता दिया - चारो छोकरे बाभन थे क्योंकि सयानी मूर्तियों के लिए भोज्य वस्तुएँ काफी और अपेक्षित है।''[67] इसी तरह मातृनवमी में ब्राह्मण को खाना खिलाना अंधविश्वास हैं। लगता है गांव की हर निवासी किसी न किसी अंधविश्वास का शिकार हुआ है, जब तक वहाँ शिक्षा का प्रसार नहीं होगा तब तक अंधविश्वास रहेगा।

नागार्जुन ने 'रतिनाथ की चाची' (1948) में अंधविश्वसों पर भी प्रकाश डाला है। अनेक प्रकार के अंधविश्वास होते हैं जैसे मनौतियाँ माँगना, बलि चढ़ाना, पर्दा प्रथा, पूजा-अर्चा, जादू-टोना, उपवास या व्रत रखना आदि। विद्या कब लेनी चाहिए तथा विद्या का अर्जन का मुहरत कब का होना चाहिए। ऐसी भी कुछ मान्यताएँ हैं जैसे जयनाथ अपने पुत्र रतिनाथ को कहते है, ''विद्यारंभे

गुरू श्रेष्ठ'' मतलब यह की बृहस्पतिवार को विद्या का आरम्भ करना अच्छा है, आज कौन-सा दिन है ? शनिचर रत्ति बोला।''[68] इस प्रकार विद्या आरंभ के लिए कौनसा दिन अच्छा है यह मानना भी एक अंधविश्वास है। गाँव में लोगों का विश्वास ताराबाबू पर है। उन्हीं के कहने पर जयनाथ चाची का गर्भ गिराने का यंत्र तैयार करता है। ताराबाबू के बारे में अनेक किवंदन्तियाँ प्रचलित है, जैसे चोर का घर में अटक रहना, मरी हुई गाय को जीवित करना आदि को लोग सच मानते हैं। किसी वस्तु की चोरी होना और उसे वापस लाने के लिए जादू-टोना का इस्तमाल करना भी अंधविश्वास का एक रूप रहा हैं जैसे ''एक साथ सब चिल्ला उठे अरे इन छोटी -छोटी किताबों की जरूरत और किसी को पडी होगी। भूत-प्रेत तो ले नहीं होगे ! अच्छत परसौनी का जूगल कामति कटोरा चलाना जानता है। जिस साले ने हमारी किताब ली होगी, उस पर अगर कटोरा न चलावाया तो .....''[69] कुछ लोग ग्रामों में धार्मिक अंधविश्वासों को भी मानते हैं, जैसे की रत्ती शंकर बाबा से कहता है, ''क्यों बाबा आप बैलगाडी पर क्यों नहीं चढ़ते ? बाबा सुरती खाये थे। थूककर कहा - बच्चा अब कोई इन बातों का विचार नहीं करता । बैल ठहरे शिवजी के वाहन ! इनके चारों पैर धर्म के ही चरण है। इसीलिए ब्राह्मन न हल जातेते हैं, न गाडी चलाते हैं। चढ़ना भी मना है।''[70] पंडित नेहरूजी ने अंधविश्वास की भावना को समस्या का मूल कारण मानते हुए कहा है, ''भारत की अधिकांश सामाजिक समस्याएँ जैसे जाति-पाँति, दहेज-प्रथा, साम्प्रदायिकता, बालविवाह आदि के पीछे मूल कारण अंशविश्वास एवं रूढ़ियों का आँखे मुँदकर पालन करना ही है।''[71] यह कथन यहाँ यथार्थ लगता है।

2.4.4 देवी देवता :-

ग्रामीण समाज अज्ञान, धार्मिक रूढ़ियों और अंधविश्वास के जंजीरों में जकड़ा हुआ है। भारतीय समाज व्यवस्था में धर्म को महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इससे अज्ञान और धर्मांधता के कारण कई देवी-देवताओं का निर्माण हुआ हैं। प्राचीन काल से हम देखते आ रहे है देवी-देवताओं के नाम पर ही तीज-त्यौहार, व्रत-उपवास, उत्सव-पर्व आदि का आयोजन हो रहा है। ग्रामीण समाज में रहनेवाले लोग धार्मिकता से परम्परागत और प्रचलित रीति-रिवाजों के अनुसार देवी-देवताओं की पूजा करते हैं। उनकी श्रद्धा और देवी-देवताओं का प्रसार उनके भक्तों में हो जाता हैं। इसके लिए वे मंत्र-तंत्र का पठन, बलि देना, व्रत-उपवास करना आदि विधियों को अपनाते हैं। देवी-देवताओं का आशिष प्राप्त होता हैं तो भविष्य में भूत-प्रेत, चुडैल, शकून-अपशकुन का कोई डर नहीं रहता

हैं ऐसा उनका मानना है। ग्रामों में इन भूत-प्रेतों को उतारने या भगाने का काम मांत्रिक-तांत्रिक, मंदिर के पुजारी करते है इसलिए लोग उन्हें बहुत ही सम्मान देते हैं। इस गतिविधियों में ग्रामों के लोग बहुत कष्ट उठाते हैं और अपना बहुत सारा पैसा भी बरबाद करते हैं। सबके मूल में चाहे कौन-सा भी समाज, जाति क्यों न हो धर्म ही है। धर्म के बारे में डॉ. ज्ञानचंद गुप्त ने लिखा है, "सांस्कृतिक मान्यताप्राप्त विभिन्न पवित्र विश्वास ही धर्म है, जो मानव समाज को अपने पूर्व पीढ़ियों से सामाजिक विरासत के रूपमें प्राप्त होते हैं। उसी के आधार पर अपने जीवन क्रम को निर्धारित करते हैं, आकस्मिक आपदाओं को सहन करने का संबल भी।"[72]

देवी-देवताओं की कृपा दृष्टि पाने के लिए ग्रामों में लोग जागरण, सत्यनारायण की पूजा, भागवत पुराण की कथा, भजन, कीर्तन, देवी का व्रत, रोजा, धर्मस्थलों की यात्रा करना, दान देना, भोज चढ़ाना आदि गतिविधियों को अपनाते है। ग्रामों में रहनेवाले लोग धार्मिक अंधविश्वास और अज्ञान के कारण देवी-देवताओं पर विश्वास रखते है। नदी, पेड, पर्वत, तालाब आदि की पूजा करते है। सुख-दुःख, दैवी आपदाएँ तथा जीवन में आनेवाले संकट आदि का संबंध देवी-देवताओं के साथ जोड देते हैं। संतान न होने पर देवी-देवताओं का कोप हुआ है ऐसा मानकर उसकी कृपा प्राप्ति के लिए देवी-देवताओं की पूजा-अर्चा, प्रसाद या भभून लेते हैं। उनका यह मानना होता हैं कि यह सब करने से संतान की प्राप्ति होती है।

21 वी सदी में इन सब बातों का कितना महत्त्व हैं यह हम अच्छी तरह से जानते हैं। आज विविध सरकारी योजनाएँ ग्रामों में कार्यान्वीत हो रही हैं। सरकार इन ग्रामों में रहनेवाले लोगों का अज्ञान दूर करने के लिए 'प्रौढ़ शिक्षा अभियान' चला रही है जिससे लोग साक्षर बने आत्मनिर्भर बने, वे क्या सही क्या गल समझे। इस प्रकार ग्रामीण समाज अन्दर-ही-अन्दर इन समस्याओं से झूँज रहा है डढ़कर उठकर सामना कर रहा हैं। तेजसिंह के कहने के अनुसार, "भारतीय ग्रामीण समाज का अन्त:संघर्ष मूलत: रूढ़िवादी परम्परागत मान्यताओं - संस्कारों, धार्मिक अन्धविश्वासों और सामाजिक कुरीतियों और बुराइयों आदि का समर्थन करनेवाले प्रतिक्रियावादी और उनका विरोध करनेवाली प्रगतिशील शक्तियों का संघर्ष है।"[73] नागार्जुन ने अपनी रचना में इसपर सोचा है।

'रतिनाथ की चाची' (1948) में देवी-देवताओं के स्वरूप के बारे में विचार किया है। देवता दो ही थे - शालीग्राम और नर्मदेश्वर। तांबे की सराई शालीग्राम के लिए और पितलवाली नर्मदेश्वर के लिए। तीसरी भी पितल की ही थी। वह पंच देवता के उद्देश्य थी। देवी-देवताओं के

पूजा अर्चा को ग्रामों में विशेष महत्त्व था। सभी लोग गांव के ग्राम देवता को मानते थे अत: उसीकी पूजा- अर्चा में अपना वक्त बिताते थे। राम, लक्ष्मण, सीता, हनुमान, काली, सरस्वती, भोलेनाथ, विठ्ठल रूक्मिणी आदि देवताओं की पूजा ग्रामों में होती थी। लोगों को उन्हींकी पूजा करने में आनन्द मिलता था, मन को शांति मिलती थी। साल में एक बार यात्रा का उत्सव रहता था,मेले लगते थे। आखिन के महिने में बडी धूम-धाम से बाबा दशभुजी दुर्गा की पूजा किया करते। शुभंकरपुर से उत्तर नजदिक ही छोटा-सा एक गांव पडता है, परसौनी। वहाँ के वंशी-मण्डल प्रतिमाएँ बनाने में बहुत कुशल थे।

नागार्जुन के 'बलचनमा' (1952) उपन्यास में भी देवी-देवताओं का जिक्र हुआ है। मैंने पहला कौर निगलते हुए कहा "मैं भी इधर से गुजरा हूँ चुन्नी।

भग तू कब इधर आया ? वह उपर बैठा तो मैने कहा बाबा कुसेसरनाथ का दरसन करने जो जाते है वह किधर से जाते है।

चुन्नी को अब कबूल करना पडा - हॉ इधर से ही कुसेरनाथ का रास्ता गया है।"[74]

यह कथन देवी-देवताओं की श्रद्धापर प्रकाश डालता है।

'नई पौध' (1953) इस उपन्यास में कुछ हासिल करने के लिए देवी-देवताओं के चौकट पर लोग किस तरह जाते हैं? इसका चित्रण प्रस्तुत किया है। खोखाई बाबू बिसेसरी का विवाह एक रहिस बूढे के साथ करवाना चाहते है और वह शुभ कार्य जल्द से जल्द बाधा न आते हुए संपन्न कैसे हो सकता है इसके लिए पंडितजी के पास आते है । बाई हाथ पर कौंडी भर नस निकालकर उसे पंडितजी ने आगे फैलाते हुए बोले - "सत्यश्रमाभ्या सकलार्थ सिद्धी। आपका हृदय बडा ही पवित्र है - खोखाई बाबू ! शुद्ध चित्र से आप यहा आये थे बच्ची के लिए अखंड सौभाग्य की कामना बाबा कपिलेश्वर नाथ अवश्य पूर्ण करेंगे।"[75] ग्रामो में रहनेवाले लोग देवी-देवताओं के नामपर प्राचीन काल से हाथ में काला धागा, गले में तांबे का यंत्र, सोने, चाँदी, तांबे का मंत्रोच्चारित ताईत आदि पहनते है - 'भरोसे की चंद पंक्तियाँ बिसेसरी को संकटमोचन का आमोद आश्वासन प्रतीत हुई। एक, दो, तीन, चार जपने के बाद वह उस पंक्तियों को आदि से अंत तक पढ़ गई, फिर भी संतोष नहीं हुआ। देवी-देवता का फूल अन्दर डालकर लोग बडे जतन से जन्तर मढ़वाते हैं तांबे का, चाँदी का, सोने का, अष्टधातू का ये वह उसे बाँह में, गले में, कमर में बाँधते हैं कि हमेशा शरीर से लगा रहे।' ग्रामीण समाज अज्ञान, धार्मिक रूढ़ियों तथा अंधविश्वास में लिप्त है। लोग किसी भी घटना

का सम्बन्ध देवी-देवताओं से जोडते है यहाँ चौधरी और घटकराज के बीच वर्षा को लेकर कुछ चर्चा हो रही है और वर्षा का कुछ-कुछ स्थलों में गिरना या बरसना वायु देवता के उपर निर्भर हैं जैसे की दोनों के कुछ संवाद - ''इधर तो वर्षा हुई नहीं मानों ! चौधरी ने कहा आपकी तरफ काफी हुई होगी ?

हॉ घटकराज ने मुँह खोला - वायुदेवता का खेल है। एक गाँव में मेघ बरसता है और आधा-आधा कोस हटकर दुसरे गांव में धूल उड़ती है। सब परमात्मा की कृपा है।''[76] खोखा पंडित का खानदान धर्मगुरू और पूजा-पाठ पारायण विद्वान ब्राह्मणो का खानदान था। यह कुल कभी तो शक्ति का उपासक रहा होगा, अब लेकिन पंचदेवता का उपासक था। कुल देवता इन लोगों की भगवती उग्रतारा थी। इसलिए रंग-बिरंगी फूलों की आवश्यकता पढ़ती रहती।

'बाबा बटेसरनाथ' (1954) उपन्यास में नागार्जुन ने बटवृक्ष के माध्यम से सौ साल पुराना इतिहास रखा है उसमें कहीं-कहीं देवी-देवताओं का जिक्र भी किया गया है। पुजारी ने शिवजी के ऊपर धतूरे का एक फूल उठाकर उसे दिया और पीठ पर हाथ फेरते हुए बोला, ''जाओ राऊत, भोलानाथ तुम पर प्रसन्न है। ऐसा सपना यहाँ दस-बीस वर्षो में कोई एक आध ही बड़भागी देखता है। जाओ तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हुआ।''[77] इस जमाने के पंडित या मंदिर के सेवकों को भगवान के प्रति, या मन्दिर के प्रति भी आस्था थी। मलिकाईन से मिलने आये पण्डा का यह एक प्रसंग -' अगले साल ऐसा हुआ कि मन्दिर की मलिकाईन से वैजनाथ-धाम का एक पण्डा मिलने आया। परिक्रमा के समय मन्दिर की पिछली दीवार के कोने पर उसने यह दरार देखी तो मुँह से खेदपूर्वक निकला ''शिव ! शिव ! शिव!''[78] नित्यक्रम के पूजा-पाठ का एक उदाहरण यहाँ दृष्टव्य हैं - 'सुना है, तभी से तेरा परदादा हर सोमवार को बालेश्वरनाथ पर जल ढारने जाता था।' देवी-देवता और प्रथा-परम्परा के सम्बन्ध में यहाँ चित्रण हुआ है - 'राऊत दोनों हाथ जोडे धोती का अद्धा गले में डाले विहवल मुद्रा में खडा था - ठिक उसी तरह बकरे के बलि के वक्त दशभुजा दुर्गा के सामने यजमान खडा रहता है। एक नई खुशहाल जिन्दगी मिलने के कारण बरगद के पेड का भगवान के आभार मानते हुए जैकिसुन से कहता है, ''धरती का रस, स्वाद, धूप, पानी और तेरे परदादा का लाड प्यार पाकर तथा रूपऊली के एक-एक व्यक्ति का स्नेह पाकर मैं तेजी से बड़ा होने गला। अब दरार के अन्दर की वह तंग दुनिया याद आती हैं तो बार-बार मैं शिवजी को धन्यवाद दिया करता। अब तो बेटा मैं राजकुमार की तरह लोगों की आँखों का तारा था।''[79]

लगता है धर्म, कर्म का संबंध देव-देवता से जोडकर ग्रामीण लोग अपना जीवन कार्य चलाते है। पंडित, धार्मिक लोग, मांत्रिक देवी देवता के नाम पर धन कमाते है। संकटमोचन देवता अब वहाँ संकट बने हुए है ऐसा लगता है। सच्ची देवता 'मानव' है यह संस्कार होना अत्यंत जरूरी है। साहित्यकारों ने मानवतावाद का प्रसार करने का प्रयत्न किया है मगर धार्मिक डर से लोग इसका स्वीकार नहीं करते। इसके खिलाफ आंदोलन करनेवाले आज न होना इसका प्रमाण है। अत: ग्राम देवता लोगों की अस्मिता है। वे उसका निर्वहन करते है, ऐसा लगता है। यह एक धार्मिक, सामाजिक विरासत है, उनके नामपर होनेवाले उत्सव,मेले में पवित्र भावना रही है, सांस्कृतिक एकता के वे प्रमाण है।

2.4.5 नारी जीवन :-

भारतीय समाज व्यवस्था में नारी को पवित्र माना है अत: उसका स्थान महत्त्वपूर्ण हैं। नारी और पुरूष दोनों एक ही सिक्के के दो अंग है। उनके कारण समाज का तालमेल सुचारू रूप से चल रहा है। हमारी संस्कृति में 'मातृ देवो भव' ऐसी मान्यता प्राचीन काल से रही है। इससे नारी की महत्ता स्पष्ट होती है। उसकी महत्ता हमें रामायण, महाभारत जैसे पवित्र ग्रंथों में भी मिलती है। जगद्‌गुरू शंकराचार्य ने कहा है 'जगन्माता जगतगुरू।' उन्होंने नारी को माँ के रूप में देवत्व प्रधान का 'आदि शक्ति' का रूप माना है। इसिलिए नारी को पूजना चाहिए, उसे सम्मान देना चाहिए क्योंकि उसके कारण ही घर, परिवार, राष्ट्र, संसार समृद्ध बनता है। नारी की महानता एक माँ, पत्नी, सखी, बहन के रूपों में वर्णित है। प्राचीन काल से उसकी गौरवगाथा गाई जा रही हैं इसमें कोई शक नहीं हैं तभी तो कहा गया हैं 'यत्र नारी पूजयन्ते, रमन्ते तत्र देवता', अर्थात जहाँ-जहाँ नारी की पूजा होती है वहाँ-वहाँ भगवान निवास करते हैं।

भारतीय संस्कृति के अनुसार स्त्री को महत्त्वपूर्ण स्थान हैं मगर प्राचीन रूढ़ियों, परम्पराओं और रीति-रिवाजों के कारण नारी का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं हैं। प्राचीन काल से भारत में पुरूषप्रधान संस्कृति है और इसी कारण पुरूष को प्रधान स्थान हैं और नारी को गौण। समाज ने उसे एक बन्दिनी की तरह जकड़कर रखा है। उसे पूजा-अर्चा, तीज-त्यौहारों, समारोहों में महत्त्व दिया जाता तो हैं लेकिन प्रत्यक्ष रूप में उसे चार दीवारों में बन्द किया जाता हैं। प्राचीन काल से नारी के एक सूत्र है 'चूल्हा और बच्चा'। तो इस के अनुसार परिवार में नारी को सिर्फ खाना पकाना और बच्चों को सँभालना यही उसकी कर्मभूमि है धर्मभूमि है। इस समाज ने नारी सहजता से बाहर आने नहीं दिया।

BARR. BALASAHEB KHARDEKAR LIBRARY
SHIVAJI UNIVERSITY, KOLHAPUR.

स्वातंत्र्योत्तर काल में 'बन्दिनी' नारी को सच्चे रूप में आजादी मिलने के संकेत मिलने शुरू हुए। उसके वैधानिक अधिकार भी मिलने की संभावनाएँ बढ़ती गई। यह स्थिति नगरों की अपेक्षा ग्रामों में कम दिखाई देती है। इसका एक मात्र कारण हैं ग्रामीण जीवन में अज्ञान, रूढ़ि, परम्पराएँ अधिक मात्रा में थी। ग्रामीण जीवन पिछडा हुआ है। ग्रामीण जीवन में नारी स्थिति देखकर कुछ सेवाभावी संस्थाओं ने अपनी-अपनी तरफ से योगदान दिया हैं तथा नारी का स्थान ऊँचा करने का सच्चा प्रयास किया हैं। यह सब होते हुए भी ग्रामीण नारी अपने सम्मान, रक्षा और हक्को के लिए संघर्षरत रही हैं। नारी स्थिति पर तेज सिंहजी का कथन है, "भारत का ग्रामीण समाज अभी भी अत्यन्त पिछडा हुआ है। अनेक सामाजिक समस्याएँ है। विधवा विवाह, वेश्यावृत्ति, बहुपत्नी प्रथा और नारी के क्रय-विक्रय आदि सामाजिक समस्याएँ सामन्ती समाज की समस्याएँ हैं, जिनका पूँजवाद में समूचित समाधान हो जाना चाहिए था, परंतु नहीं हुआ।"[80] ग्रामीण समाज परम्परागत मान्यताओं, रूढ़ियों और परम्पराओं में जकड़ा हुआ है। इसी वजह से नारी के जीवन में कुछ विशेष रूप से परिवर्तन नहीं हुआ है। इसके बारे में आशारानी व्होरा ने लिखा है, "संवैधानिक स्वतंत्रता व समानता के बावजूद भी यह आजादी और यह सम्मान केवल मुठ्ठी भर महिलाओं के लिए ही है। सामान्य नारी आज भी उतनी ही पिछडी व घटी हुई है और उतनी ही असुरक्षित है।"[81] आशारानी के विचार ग्रामींण नारी के संदर्भ में तर्कसंगत लगते है।

ग्रामीण नारी आज भी देखा जाए तो असुरक्षित जीवन जी रही है। उसे अपना खुद का अस्तित्व ही नहीं है और इस कारण परिवार और समाज में उसका शोषण हो रहा हैं। परिवार में पति, सास-ससुर, ननद, देवर-देवरानी, सौतन आदि से नारी पर अत्याचार हो रहे है। लेकिन समाज इसके खिलाफ आवाज उठाने में ढिलाई परत रहा है। इसी वजह से जमींदारों की बूरी नजरों की शिकार गाँव की युवतियाँ होती है। उसकी अस्मत खिलवाड का साधन माननेवाले जमींदार उसे भोग का साधन बनाते थे। गाँव में किसी की लडकी सयानी हुई तो सबसे पहले जमींदारों की नजर उसकी तरफ जाती है। दौलत के नशे में ये लोग अपना-पराया कुछ नहीं समझते। गरीबों के पास दौलत तो होती नहीं, उनकी दौलत उनकी इज्जत होती हैं जो उन्हें जान से प्यारी होती है। लेकिन यह बात जमींदार नहीं समझते। साहूकार, सेठ, गुण्डे, पाखण्डी लोग अपनी हवस के लिए नारी पर अत्याचार करते हैं। उन पर जबरी करके उनकी हत्या करते है। पुलिसवालों से उनकी मिलीभगत होने से इनके खिलाफ आवाज उठाने पर भी नारी को न्याय नहीं मिलता। इस तरह ग्रामों में नारी पर अत्याचार किये जाते हैं।

आधुनिक काल में सामाजिक परिवर्तन से लोगों के सपने आशा-आकांक्षाएँ बढ़ रही हैं। इसका असर पति-पत्नी के पवित्र सम्बन्ध पर हो रहा है। ग्रामीण समाज भी उसके लिए अपवाद नहीं है। ग्रामीण समाज में भी पति-पत्नी पर अत्याचार कर रहा है। पत्नी के चरित्र पर सन्देह कर रहा है, उसकी बदसूरती के कारण उस पर अत्याचार कर रहा है। इस पुरूषप्रधान संस्कृति में बेकसूर होते हुए भी नारी को अनेक यातनाएँ सहनी पडती हैं। उसके सुनहरे सपने, आकांक्षाएँ मिट्टी में मिल रहे हैं। इसके लिए यह समाज व्यवस्था ही जिम्मेदार है, ऐसा कहा तो अनुचित न होगा। नागार्जुन ने अपनी रचनाओं में नारी जीवन पर किस तरह प्रकाश डाला है, इस पर यहाँ हम सोचेंगे।

'रतिनाथ की चाची' (1948) उपन्यास में नागार्जुन ने भारतीय समाज व्यवस्था में नारियों के प्रति कितना क्रूर और अमानवीय बर्ताव किया जाता है इसका यथार्थता से चित्रण किया है। ग्रामों में नारी का शोषण हो रहा है इसमें भी विधवा नारी का शोषण अत्यंत भयावह दिखाई देता हैं। पति के मृत्यु के बाद समाज उसे दु:ख और दर्द भरे खाई में ढकेल देता है। चाची का जीवन इसका उदाहरण है। चाची का अनमेल विवाह हुआ था। पति की मृत्यु दमे के कारण होती है। चाची अर्थात गौरी तरकुलवा की सुन्दर लडकी थी। लेकिन वह जल्दी ही विधवा हो गई थी। पिता के मृत्यु के बाद वह अपने तरूण देवर जयनाथ के रूग्ण कामवासना का शिकार होकर अपने जीवन भर आँसू बहाती हुई ग्लानि के अग्नि में जलती रहती है। उसे गर्भ रहने पर अपमानित और प्रताडित जीवन जीना पडता है। वह अपने माँ के पास जाती है, यहाँ एक प्रसंग दृष्टव्य है - 'गौरी की माँ सोचने लगी - इस तरह गौरी को मैं छिपाकर कब तक रख सकूँगी ? इसी तरकुलवा में यह घटना क्या पहले कभी नहीं हुई है। वह अपने आपही बुदबुदाने लगी - कोई क्या कर लेगा हमारा ? बिटीयाँ को मैं प्याज की तरह जमीन के अन्दर दबाकर नहीं रख सकती, इसके चलते जो कुछ हो। जिस समाज में हजारों की तादाद में विधवाएँ रहेगी, वहाँ यही सब तो होगा। मख्खन पाठक की पतोहू उदर कर पंजाब चली गयी है, एक सिक्ख के साथ रहती है। मेरे जीते जी गौरी मुसलमान या सिक्ख के घर जाने को मजबूर नहीं की जा सकती।' डॉ. सुषमा धवन के शब्दों में, "नारी के लिए सबसे बडा दु:ख वैधव्य का है और विधवा का दयनीय जीवन मध्यवर्गीय समाज में अत्यंत करूण है।"[82] नारी समस्या और अवैध सम्बन्ध को लेकर एक दृष्टव्य - कहते है "अरिया समाज के तरफ से बडा अच्छा इन्तिजाम है। विधवा हो चाहे कोई भी हो, वहाँ गरथ किसी कान हीं गिराया जाता। ठिक समय पर बच्चा पैदा होता है। माँ चाहती है तो बच्चे को रखती है नहीं तो अरिया समाज ही बच्चे को रख लेता है।"[83]

गौरी के पेट में बच्चा है ऐसी स्थिति में जयनाथ उसे उसके माँ के पास छोडकर काशी चला जाता है। उसके इस बर्ताव से गौरी को पुरूष जाति से ही घृणा होती है। उसकी माँ बधुना चमाइन को बुलाकर गर्भ गिराने में सफल होती है। ''गौरी की माँ समाज के लिए वाघिन थी। इतना बडा कुकांड हो जाने पर भी तरकुलवा में किसी ने गौरी की माँ को खुल्लाम-खुल्ला कुछ कहा नहीं।''[84] यह कथन साहसी नारी को स्पष्ट करता है। यहाँ नागार्जुन ने नारी शोषण के विविध आयाम दिखाए है जो यथार्थता का परिचय देते हैं। नारी के प्रति नारी की भावना क्या होती है इसका चित्रण भी नागार्जुन ने यहाँ किया है - दमयन्ती का चेहरा खिल उठा है। वह अपनी बारीक सुई को चादर पर चला रही थी। प्रसन्ना से उँगली की गति रूख गई और बोली ''उस भ्रष्ट औरत (गौरी) से भगवान हमें बचाये।''[85] यहाँ पर गौरी के पेट में बच्चा है। विधवा दमयन्ती का स्वयं आचरण भ्रष्ट होते हुए भी कूटनीतिज्ञ शतरंज की खिलाडिन बन जाती है, गौरी का उपहास कर सामाजिक बायकॉट का उपक्रम करती है। वह कहती है - ''उमानाथ की माँ व्यभिचारिणी है, पतिता है, भ्रष्टा है, छिनाल है, उससे हमें किस प्रकार संबंध नहीं रखना चाहिए। बोल-चाल बंद - उमानाथकी माँ को समाज किसी भी हालत में क्षमा नहीं कर सकता।''[86]

भारतीय समाज व्यवस्था में बाल विधवा यह एक समस्या प्राचीन काल से पनप रही है। नागार्जुन ने यहाँ जयनाथ और एक बालविधवा का चित्रण किया है। जयनाथ उस विधवा के बारे में मालुमात करता है तब वह जयनाथ से कहती है, ''बाल विधवा हो जाने के बाद जेठानी और ननद के दुर्व्यवहार से तंग आकर नैहर रहने लगी।''[87] तेजसिंह के शब्दों में ''भारतीय समाज में नारी के वैधव्य जीवन की समस्या आज कोई नई समस्या नहीं है। मातृसत्तात्मक समाज से पितृसत्तात्मक समाज में संक्रमण अर्थात वर्ग विभाजन, जो सामन्ती समाज व्यवस्था की प्रमुख विशेषता है, से नारी के शोषण की शुरूआत होती है और जो आज तक भी वर्तमान है।''[88] यह कथन यहाँ यथार्थ लगता है।

'बलचनमा' (1952) उपन्यास में - ग्राम की बहू-बेटियों को बुरी नजर से दखेने वाला यह वर्ग कितना भ्रष्ट और जालिम है। इस उपन्यास के नायक बचलनमा की छोटी बहन रेबनी की छोटे मालिक अस्मत लूटने का असफल प्रयत्न करते है। एक रोज माँ के साथ वह काम पर गई। आटा पिसना था। माँ ने कहा ''चल, दो हाथ लगा देगी तो जल्दी पीस लूँगी। मालिक मधुबनी दिन को आम, दूध और फुलका खाकर जायेंगे। रेबनी माँ के साथ गई। दोनो माँ-बेटी आटा पीस चुकी, तो मालिक ने आवाज दी बलचनमा की माँ, अरे लडकी तो तेरी बढ़कर ताड हुई जा रही है। यह कह कर

उन्होंने सिर से पैर तक रेबनी के समूचे बदन पर उडती निगाह मारी और नचाकर आँखे मींच ली। सामने दूसरे घर के ओसारे पर पलँग पडी थी। गद्दा था, चादर थी। तकिया भी जिसके दूध जैसे दप-दप उजले खोल पर ताल-हरे धागों से कसीदा था - चोंच में चोंच भिडाये दो तोते। उसी पर केहुनी टिकाये मलिक बैठे थे। आँख फाड-फाडकर उन्होंने रेबनी को देखा था।''[89] आखिर उन्होंने रेबनी को जबरन जमीन पर गिरा दिया और खुद उसके बदन पर काबू पाने की कोशिश करने लगे। पंद्रह साल की वह असहाय लडकी अपनी समूची ताकत लगार उस पस्त हालत में भी मुकाबला करने लगी। कुत्ते और बिल्ली की लढ़ाई कभी देखी है भैया ? वही हाल था। मेरी बहन ने हार नहीं मानी। उसने मालिक की कलाई पर इतने जोर से दाँत गडा दिए कि ससुर अचेत हो गये और रेबनी बिजली की पूर्ती से उठ कर भाग आई। इसके बाद जो बवंडर उठा उससे मेरी जिंदगी के बहाव को ही मोड दिया।

नारी शोषण का दूसरा रूप विधवा नारी है। यहाँ पर मलिकाइन ने कामन कुदन मिसरकी विधवा पर जो जुल्म ठाये वो इस प्रकार देखिए - मलिकाईन ने उससे कहा - ''उतरबरिया (उतरवाले) घर में बटखरा पडा है, तराजू भी वही है। लाकर तोल लेना यह धान। कामाति सफेद पत्थर की गोल मटोल पनसेरी से जब तोलने लगे तो टुकडी हिलाकर बराम्हनी बोली - ऊँहु ! यह नहीं है वह बटखरा जिससे तोल कर मिला था..... ऊँ हुँ ..... है SSS ! सच बघारने आई है - गरजकर मलिकाईन ने कहा - देखो, कामन फूदन मिसर की यह विधवा क्या बक रही है - तब तो आ-आकर नाक रगडती है, ईसर-परमेसर, अनपुर्णा, लछमी जाने क्या - क्या बनाकर पैर पकडती है। मौके पर न दो धान तो समूचे गांव को बरमबंध (ब्रहमवध) लगेगा, दो तो लौटाते समय ..... फटता है। सँइयाँकाही, कहती है कि बटखरा बदला हुआ है।''[90] नारी पर ये जो अत्याचार हो रहे है यह कहीं ना कहीं रूकना चाहिए। डॉ. सुषमा धवन के शब्दों में ''समाज के नैतिक मूल्यों में परिवर्तन हुए बिना नारी समस्या का कोई ठोस एवं स्थायी समाधान प्राय: असम्भव है।''[91]

'नई पौध' (1953) उपन्यास में शादी के अवसर पर जो नारी पर अत्याचार होते हैं इसका चित्रण हुआ है। नागार्जुन ने उसके लिए मिथिला गाँव का सामाजिक जीवन लिया है। यहाँ पर अनमेल शादियों का चित्रण मिलता है। गाँव में खोखाई पंडित को सात लडकियाँ थी। रामेसरी बडी लडकी थी और तेरह साल से विधवा थी उसने बडी कोशिश कि की ससुराल में ही जमी रहे लेकिन जेठ और देवरानी ने बेचारी के खिलाप एक अजीब संयुक्त मोर्चा बना लिय तो भागकर माँ-बाप की छाया में आ गई थी। अपने पिता की इधर की गतिविधियों से रामेसरी बडी शांत रहती थी। शंकित

होने का कारण क्या था ? कारण यही था कि रामेसरी को छोडकर बाकी छटों बेटियाँ खोखा पंडित ने बेच डाली थी ....

मससेरी से 1100 मिले थे।	भुवनेसरी से 800 मिले थे।
गणेसरी से 700 मिले थे।	गुजेसरी से 2000 मिले थे।
बानेसरी से 700 मिले थे।	धनेसरी से 800 मिले थे।

और अब बिसेसरी का नम्बर था। फसल तैयार खडी थी, कहने भर का विलम्ब था। खोखाई पंडित ने विक्रम के सभी पुराने रिकार्डो को काट दिया है। उन्होंने अपनी छ: कन्याओं को बेचा है। खोखाई पंडित के इस कृत्य से ऐसा लगता है कि नारी शोषण के साथ नारी विक्रय और विभिन्न समस्या पैदा हो जाती है। तेजसिंह के शब्दों में, ''नारी विक्रय की समस्या भी एक ऐसे ही समाज-व्यवस्था की देन हैं जिसमें समाज की स्थिति आर्थिक सामाजिक दृष्टि से विषम हो। नागार्जुन के उपन्यासें में नारी विक्रय की समस्या दो रूपों से मिलती है - एक आर्थिक स्तर पर - जिसमें उच्च या निम्न वर्ग गरीबी और धनाभाव के कारण अपनी लडकियों के विक्रय के लिए विवश होता है। दूसरी यह कि उच्च वर्ग - मैथिल ब्राह्मण - कुलिनता के झूटे दम्भ और अहंकार के कारण अपनी लडकियों का विक्रय करते है।''[92] यहाँ पर लेखक की प्रगतिशील विचारधारा की अभिव्यक्ति हुई है। इसमें मैथिल समाज में प्रचलित पुरानी वैवाहिक कुरितियों तथा अनमेल विवाह के खिलाफ आवाज बुलंद की है। मिथिला आँचल के नौगछिया के प्रगतिशील नवयुवक है जिन्होंने नई सभ्यता और संस्कृति को अपनाया है। वे गाँव में होनेवाले अनमेल विवाह को रोक कर यथार्थ रूप में विवाह संपन्न करने का सच्चा प्रयास कर रहे है।

सामाजिक व्यवस्था में विवाह पवित्र बंधन है। जाति की उपेक्षा, उम्र ध्यान में रखकर विवाह किए जाते है परंतु अर्थाभाव, अज्ञान, रूढ़ि के कारण अनमेल विवाह भी होते है। इस संदर्भ में 'विवाह' किसे कहते है इस बारे में विद्वानों ने परिभाषाएँ दि है -

1) यज्ञ दत्त शर्मा - ''विवाह एक सामाजिक बंधन है, जो मानव जीवन को व्यवस्थित और सुचारू रूप से चलाने के लिए समाज ने बनाया है।''[93]

2) डॉ. रमेश देशमुख - ''विवाह संस्था सामाजिक संस्था का मेरूदण्ड है। भारतीय संस्कृति में विवाह समझौता मात्र नहीं, अपितु एक धार्मिक संस्कार है, विवाह का उद्देश्य केवल शारीरिक नहीं आध्यात्मिक भी है। विवाह को दो आत्माओं का मिलन कहा गया है।''[94]

देखा जाए तो यहाँ 'विवाह संस्कार' की जो परिभाषाएँ दी है वह तर्कसंगत लगती है और यहाँ पर जो अनमेल विवाह संस्कार हो रहे है, बिलकूल गलत है, विवाह संस्था के सामाजिक ढाँचे के बाहर है।

यहाँ पर बिसेसरी कहती है - ''मगर मै, अब तक क्वाँरी हूँ। दूल्हा होने को कोई राजी नहीं होता ...... तुम लोग एक बुढ्‌ढे को ले आये थे, छोकरों ने उस अहमफ को खदेड दिया। अब वह घूम-घूमकर समूची दुनिया में कहता फिर रहा है, मुखिया की बेटी की सेंथ में सेंदूर तो मै भर ही आया, अब गौणा हो, चाहे नहीं हो .... जहाँ कही कोई मुझसे ब्याह करने को तैयार होता है, यह बुढ्‌ढा जाकर उसे रोक देता है। एक दो नहीं, चार-चार आदमी बुढ्ढे के बेहकावे में आ चुके है। बाबा मैं जिन्दगी भर अनब्याही रहूँगी।''[95] लोगों की मानसिकता कितने नीचे की स्तर पर पहुँचती है और इस वजह से बेचारी नारी को न जाने कितने दु:ख सहने पडते है। तेज सिंह के शब्दों में - ''भारतीय समाज में अनमेल विवाह एक सामाजिक बुराई है। बहुधा इसमें नारी को अभिशप्त जीवन जीने के लिए बाध्य किया जाता है। अनमेल विवाह का मूल कारण आर्थिक होता है। क्योंकि भारतीय नारी प्राय: ही आर्थिक दृष्टी से परतन्त्र होती है और इसलिए सर्वाधिक सामाजिक शोषण का शिकार भी नहीं होती है।''[96] भारतीय संस्कृति में विवाह संस्कार को एक विशेष महत्त्व है। देखा जाए तो कामवासना की पूर्ति और नवनिर्मिति के लिए विवाह संस्था का निर्माण किया गया है। लेकिन इसमें पति और पत्नी के विचार, स्वभाव, उम्र, रहन-सहन आदि जैसी महत्त्वपूर्ण बाते आती है।

2.4.6 जातीयता :-

भारत देश में प्राचीन काल से जात-पाँत की प्रवृत्ति है। भारतीय समाज व्यवस्था का आधार जाति संस्था पर आधारित है ऐसा कहा तो अनुचित नहीं होगा। समाज में धर्म को जिस प्रकार महत्त्व है उसी प्रकार जाति एवं वर्णव्यवस्था को भी अनन्यसाधारण महत्त्व है। प्राचीन काल से आज तक वर्ण व्यवस्था के आधार पर ही लोग अपने-अपने व्यवसाय करते है, जैसे की किसान खेती करता है, कुम्हार मिट्‌टी के बर्तन बनाता है, नाई अपना काम करता है, पुजारी मंदिरों की देखभाल करता है, माली फूल देता है, चमार जूते बनवाता है। इसमें उँची जाति के लोग निम्न जाति के लोगों के साथ अच्छा व्यवहार नहीं करते। निम्न जाति के लोगों को समारोहो, मंदिरों में प्रवेश नकारा जाता है। ये लोग जाति-पाँती के बंधन मानते है इस मूल में उनका अज्ञान, अशिक्षा, धार्मिक अंधश्रद्धा और अंधविश्वास है। अगर कोई मनुष्य गलती से भी जात-पाँत के खिलाफ व्यवहार करता

है तो उसे जाति से अलग कर दिया जाता है। जाति व्यवस्था के बारे में यज्ञदत्त शर्मा ने लिखा है, ''हिन्दु धर्म में जातियों का उदय हुआ, जिससे जाति विद्वेष की मात्रा बढ़ी और पारम्पारिक घृणा को प्रश्रय मिला। जाति के उत्थान में यह सहाय्यक न होकर बाधक हुई। मानवता एवं सभ्यता का धीरे-धीरे ऱ्हास हुआ।''[97] धर्म के साथ जाति एवं गोत्र का महत्त्व भारतीय समाज व्यवस्था में चला आ रहा है। ग्रामीण लोग अपनी जाति व्यवस्था को सुरक्षित रखना चाहते है। परिणामस्वरूप जातीय भेदाभेद की समस्या का निर्माण हुआ। प्राचीन काल में अगर शूद्र को रास्ते से जाना होता तो उसे अपने पीछे झाड़ू बाँधना पडता ताकि रास्ता भी अपवित्र हो न जाए, और इन लोगों को सार्वजनिक पनघट पर भी जाना मना था। जात-पाँत के बंधन कडे थे।

आज देश में जातीयता और सांप्रदायिकता के नामपर दंगे, मारकांट, कत्ल हो रहे है। हिन्दू-मुस्लिम, सिक्ख-ईसाई हम सब है भाई-भाई यह सिर्फ कहने और सुनने तक ही मर्यादित हैं। अपने-अपने मजहब के नाम पर लोग एक दूसरे का खून पी रहे है - जैसे की 1992 में बाबरी मस्जिद को गिराया गया। हिन्दू और मुसलमानों में मारकाँट हुई जिसमें बडी तादाद में हिन्दू भी मारे गये और मुसलमान भी। इसके लिए जिम्मेदार यह जातिव्यवस्था ही है नहीं तो और क्या ? डॉ.देवेश ठाकुर मानते है - ''ग्राम और आंचलिक स्तर पर जातीयवाद का विष बीज विकास पा रहा था जिससे व्यक्ति-व्यक्ति के बीच मतभेद की खाई गहरी हो रही थी और व्यक्ति और समाज जातिगत आधार पर अलग-अलग समूह में विभाजित हो रहा था।''[98]

नागार्जुन ने 'रतिनाथ की चाची' (1948) में समाज में स्थित जाति व्यवस्था का चित्रण किया है जैसे की कुल्ली राऊत निम्न जाति का है। वह चुपके से कुछ मंत्र सिकता है। जब इस बात का रतिनाथ के पिता जयनाथ को पता चलता है तो वह क्रोधित होकर कहता है, ''साले की चमडी उधेड लूँगा। शूद्र है तो शूद्र की भाँति रहे।''[99] इससे यह स्पष्ट होता है कि निम्न जाति के लोगों को धर्म-मंत्र के पढ़ने का कोई अधिकार नहीं। इस संदर्भ में ताराबाबू का और एक कथन है, ''ताराबाबू ने जो मंत्र दिया था उसे उन्हें तरकुलवा नहीं भेजा। लिफाफे में भेजने से यंत्र का प्रभाव घट जाता है। शूद्र के द्वारा इसे भेजा नहीं जाता। अन्ततोगत्सा जयनाथ ने तय किया तय की रत्ती को ही भेज दे।''[100]

वर्णव्यवस्था और जातिव्यवस्था के आधार पर ही ग्रामीण लोग अपने अपने व्यवसाय करते थे। जैसे की यहाँ पर 'हजाम अगर बाल नहीं बनाएगा तो क्या ? इसीसन पर दिन की गाडी के वक्त

दस-दस हजाम बाल बनाने के लिए तैयार बैठे रहते हैं। जांति-पाँति किसी को नहीं पूँछते।'[101] चाची के अवैध मातृत्व के कारण दम्मोफूली जो सारी नारियों की प्रमुख है वह चाची के घर को समाज से बहिष्कृत करती है और कहती है, ''अब इस आँगन में न धोबिन आएगी, न नाईन, न डोमिन, न चमाईन। ब्राह्मणी की तो भला बात ही कौन कहे।''[102] यहाँ स्पष्ट है जातीयता का प्रभाव नारियों पर भी रहा है। गाँव की रचना में भी जातीय समाज व्यवस्था के दर्शन होते है। जैसे की उच्च वर्ग के निवास अलग होते है और निम्न वर्ग की बस्तियाँ गाँव के बाहर दूर होती है, यही इसका प्रमाण है।

'बलचनमा' (1952) में भी जातीय व्यवस्था के दर्शन होते है। इस बारे में बलचनमा के विचार इस प्रकार, ''उस दिन मुझे ऐसा लगा कि, सबुरी काका भैस की सेवा करने में बडे ही होशियार है, इनके पास घडी-आध-घडी रोज आकर बैठू तो, बहुत सी बातें यों ही समझ में आ जाएगी और तबसे जब कभी मुझे मौका मिलता है, तभी जाकर सबुरी मण्डल के पास जा बैठता। हम एक बिरादरी के नहीं थे। वह थे धानुक में ठहरा ग्वाला। वह थे सबुरी मण्डल में ठहरा बालचन्द राऊत, फिर भी दादा-परदादा की तरह वह मुझे प्यार करते।''[103] बचलनमा खुद एक अहिर मजदूर तथा ग्वाला हैं और उसकी जाति के अनुसार उसे मालिक ने भैसे चराने का काम दिया है। यहाँ पर मैथिल ब्राह्मण छोटी जातवालों का छूआ हुआ भोजन नहीं खाते। फूलबाबू के दादा, परदादा भी छोटी जातिवालों को लूटते थे। नागार्जुन ने इसका चित्रण करते हुए लिखा है - ''छोटी जातवाले जन बनिहारों के पास होता ही क्या ? मगर भैया इन कसाइयों के चलते बेचारों के पास यह सब भी नहीं रह पाता। नीलाम करा लेते है। कुर्क हो जाती है .... बडी जातवालों की मात्रा तब भी अपार थी और अब भी। बात-बात में अपनी गोरी वही लाल करते है।''[104] बलचनमा को यहाँ निम्न जाति का समझा जाता है इस कारण उस पर जुल्म, अत्याचार किये जाते है। जरा-जरासी बात पर, जातीयता बीच में आती है जैसे की बचलनमा के गाँव के बैद्य, आदमी कितना भी बीमार क्यों न हो पर छोटी जातिवालों के यहाँ जाकर कभी भी नाड़ी नहीं देखते, दूर से ही दवा देते है। यह स्थिति बडे पैमाने पर, ग्रामों में चलती थी।

यहाँ स्पष्ट है की जातियता के कारण ग्रामव्यवस्था में दरारें पड गयी हैं । बैद्य अपना धर्म, कर्म तक भूल गये है। यह सब स्थिति होते हुए भी सामाजिक संस्थाएँ तथा सेवाभावी संस्थाएँ, समाजसुधारकों द्वारा यह जातिभेद की दूरियाँ कम करने का सच्चा प्रसाय हो रहा है। मालिक ने

कहा, ''चल साथ खायेंगे। यहाँ ऊँच-नीच का झंझट नहीं है। गाँधी महात्मा को अपना गुरू मानने वाले आश्रम के लोग न तो छूत-छात मानते है न उँच नीच। सच बतला हूँ भैया, फूल बाबू की यह बात सुनकर मुझे बडा अचंबा हुआ, भीतर-भीतर हँसी आयी। उँच-नीच का भेद सदा से चला आया है, सदा रहेगा। चार आदमियों के मानने से क्या होगा।

'नई पौध' (1953) इस उपन्यास में अनमेल विवाह की बात कहकर जातीयता पर प्रकाश नागार्जुन ने नहीं डाला है । एकाद प्रसंग के माध्यम से जातीयता स्पष्ट होती है जैसे एक दृष्टव्य - ''दूल्हा भला क्यों पीछे रहने लगा ? वह बोला 'सरकार म्लेच्छा के प्रभाव में है, हम हिन्दू अगर आपसी भेद-भाव भूलकर एक हो जाये तो कल रामराज्य स्थापित हो जाय।''[105]

स्पष्ट है जाति-पाँति का प्रभाव गाँव के जनजीवन में लक्षित होता है। हर जाति का व्यक्ति अपनी जाति को श्रेष्ठ मानने की कोशिश करता हैं, इससे जातीय संघर्ष निर्माण होता है। जातीयता की बेडी में जकड़े हुए ये लोग आज भी पूरी तरह से बाहर नहीं आये है। इसी तरह लोग अपना बर्ताव नहीं छोडेंगे तो व्यक्ति, गाँव, राज्य, राष्ट्र का विकास कैसे होगा ? जातीयता की समस्या देश की एकता, अखंडता में दीवार बनकर रही है। इसे जब मिटाया जायेगा तभी सच्चे अर्थ में मानव धर्म स्थापित होगा। जातीयता देश के लिए धब्बा दूषण है। मानव निर्मित समस्या का हल मानव को ही ढूँढना होगा। सच्चे मानव को देखना हो तो जातीयता से दूर रहना होगा, सभी मानव एक है। 'मानवधर्म' को ही मानना सच्चे अर्थ में सच्ची देशभक्ति होगी, यही संदेश साहित्यकार देते है।

2.4.7 परिवार :-

भारतीय संस्कृति का 'परिवार' एक अंग रहा है,तत्व है। व्यक्ति और समाज के लिए परिवार का बहुत बडा योगदान रहा है। संस्कृति की रक्षा परिवारों के माध्यम से ही होती है। हर एक व्यक्ति के जीवन में परिवार एक महत्त्वपूर्ण कडी होती है और इसी श्रृंखला में मनुष्य जन्म से मृत्यु तक बंधा रहता है, मनुष्य के जन्म, बचपन, शिक्षा, विवाह, आदि गतिविधियाँ सब परिवार में ही होती है। डॉ. श्रीराम शर्मा ने लिखा है, ''समाज की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण इकाई परिवार होती है। पारिवारिक जीवन के विश्लेषण से सामाजिक स्वरूप की स्पष्ट झाँकी मिल सकती है।''[106] परिवार के बिना हर इन्सान अधूरा है। परिवार में ही हर व्यक्ति का संस्कारों का निर्वहन कैसे करता? उसकी शिक्षा मिलती है। इसके अलावा यौन संबंधी जानकारी, संतानोत्पत्ति, जीविका, शिक्षा, प्रेम, वात्सल्य, सामाजिक एवं व्यवसायिक ज्ञान आदि बातों की जानकारी मिलती है। व्यक्ति और समाज के सांस्कृतिक, सामाजिक विकास के लिए परिवार महत्त्वपूर्ण कार्य करता है।

भारतीय परिवार प्राचीन काल से संपन्न थे। परिवार में माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-बहन, चाचा-चाची, बाल-बच्चे रहते थे। परिवार वह व्यवस्था है जिसमें अपनापन, ममत्व, भाईचारा, सहयोग आदि भाव रहते है। एक-दूसरे के प्रति लगाव ही परिवार की नीव है। संयुक्त परिवार भारतीय समाज की देन है, परंतु आज इसमें खंडितता, टूटन आयी है। परिणामस्वरूप 'छोटा परिवार' की संकल्पना पनप रही है। हमारे परिवार का पुरूष मुखिया रहता था। याने प्रमुख व्यक्ति के रूप में वह काम करता था। देखा जाए तो इसका एक मात्र कारण है पुरूषप्रधान संस्कृति।

नारी को हमेशा परिवार में निम्न दर्जा मिला है। उसे पुरूष के समान स्थान और सम्मान नहीं है। नारी पर सभी प्रकार के बन्धन हैं वह एक प्रकार से 'बन्दिनी' का जीवनयापन कर रही है। हमेशा से ही परिवार में नारी का शोषण होता आया है। उनपर अन्याय और अत्याचार होते रहे है। वर्तमान परिवार के मूल ढाँचे में परिवर्तन हुआ है। भौतिकवादी प्रवृत्ति तथा पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से परिवार बिखेर रहे है। उनके रिश्तों में दरारें पैदा होती जा रही है। आज बेटा अपने माँ-बाप को भी निम्न दर्जा का स्थान दे रहा है। जो माँ-बाप पूजनीय, वंदनीय थे, उन्हें यह भी दिन देखने मिल रहे है। भाई-भाई को पहचाने से इन्कार कर रहा है। औदयोगिकरण, भौतिकवादी प्रवृत्ति, नई शिक्षणप्रणाली, संस्कारहीनता, आर्थिक विषमता, आपसी ईर्ष्याभाव, राजनीतिक माहोल आदि के कारण परिवार में यह स्थिति निर्माण हो रही है।

पहले के संयुक्त परिवार आज टूटते-बिखेरते जा रहे है यह एक सामाजिक विकृति ही है। इस संदर्भ में डॉ. एस. बी. महाजन ने लिखा है, "बदलती स्थितियों के परिप्रेक्ष्य में बाप-बेटे, पति-पत्नी, प्रेमी-प्रेमिका आदि सब मिलकर परिवार, परिवेश सम्बन्धों के नाम पर भले ही एक रहे हो, लेकिन उनके भीतर वह नहीं रह गया, जो रूढ़ अर्थों में हुआ करता था।"[107] इससे स्पष्ट होता हैं कि वर्तमान स्थिति में संयुक्त परिवार का क्षेत्र सीमीत हो रहा है। भारतीय संस्कृति में इतने सारे आदर्श कूट-कूटकर भरे हुए हैं कि सहजता से परिवार संस्था नष्ट नहीं हो सकती। फिर भी हर एक भारतीय का धर्म है कि परिवार की जो टूटन हो रही है उसे बचाना चाहिए। तेजसिंह ने ओमेली के शब्दों को अपने विचारों में इस प्रकार प्रकट किया है, "मूल सामाजिक इकाई व्यक्ति न होकर परिवार था। परिवार ही समाज के सदस्यों के पारस्पारिक, सम्बन्धों को व्यवस्थित करता था और विभिन्न परिवारों के आंतरिक सम्बन्धों पर ग्राम समुदाय और जाति व्यवस्था का नियंत्रण था।"[108] वर्तमान स्थिति में संयुक्त परिवारों के टूटने से पति-पत्नी, माता-पिता, भाई-बहन, पिता-पुत्र, माता-

संतान, भाई-भाई, चाचा-भतीजा, आदि के सम्बन्धों में विघटन हो रहा है। संयुक्त परिवारों के लिए यह बडी सोचनीय समस्या बनती जा रही है। आज सबसे बडी चिंता की जो बात है वह यह है कि, सास-बहू के सम्बन्धों में अहंभावना, द्वेष भावना और आत्मसम्मान की भावना बडे पैमाने पर चल रही है। नागार्जुन ने परिवार व्यवस्था पर गहराई से सोचा है जो इसप्रकार -

'बलचनमा' (1952) उपन्यास में नागार्जुन ने परिवार की स्थिति के बारे में चित्रण किया हैं - बलचनमा कहता है, ''चौदह बरस की उम्र में मेरा बाप मर गया। परिवार में दादी और छोटी बहन थी। सौ हाथ लम्बा सात हाथ चौड़ा घर था दो छप्परोंवावला।''[109] यहाँ पर परिवार कितना छोटा है यह दिखाया गया है। 'हमारे मालिक की पट्टी में दिखावा कम था। मगर रूपइया-पइया जास्ती था। गाडकर रखे हुये थे। दस हजार की लहाना-तगादा चलता था। खानेवाले सात हीं मुँह थे। उपज भी हजार मन की। मलिकाईन बडी चालाक थी। भादो-आसिन में वह अपने वखार खोलती और चढ़े दाम पर सारा धान बेच डालतीं। ' एक तरफ परिवार बडा होता है मगर कमानेवाले कम होते है, पूरे परिवार की उपज कम रहती है, खाने तक के वांदे हो जाते है मगर एक ओर परिवार सीमित होता है मगर उपज कई गुना जादा होती है। यह आर्थिक विषमता दो प्रकार के परिवारों में हम प्राचीन काल से देखते आ रहे है।

यहाँ पर लेखक ने बताने की कोशिश की हैं कि परिवार कैसा होता है? रिश्ते क्या होते है ? तथा उन्हें कौन कौन-सी समस्याओं का सामना करना पडता है ? यह सब बातें बडी यथार्थता से कहीं है, ''दिवाली से दो रोज पहले ही मैं फूलबाबू के घर पहूँचा। अकेला नहीं, मलिकाईन ने एक खेत मजूर को साथ कर दिया। जिस दिन मैं घर छोडनेवाला था, उस दिन माँ की आँखे जाने कितनी बार भर आयी। वह मेरे सामने तो खुलकर रो न सकी, मगर पीछे जरूर रोई होगी। माँ का दिल ठहरा ना, और भैया मैं ही कौन सयाना था। सात-आठ कोस के इस रास्ते में पाँच-छ: दफे कलेजा फाटा। काहे न फटता। बाप तो मेरे कभी था ही नहीं। जब तक जिया कभी कलकत्ता तो कभी ढाका, कभ जलपाईगुडी, तो कभी फारसबीजगंज। भारी-भरकम डील-डौल का आदमी, बडा कपार और बडी-बडी मूँछे। बस यही तस्बीर हैं जो बाप के नाम पर मेरे सामने आती है। सर मलान इतनी थी की कभी गोद लिया हीं नहीं मुझे उसने। चुम्बा, चारी भी नहीं याद आती हैं उसकी। बात यह थी कि दादी मुझे अपना कलेजा समझती थीं। बुडिया का लाड-प्यार इतना था कि, उसके सामने इन्द्रासन भी फिका। मेरा ही नहीं और बच्चों का भी यही हाल होता है। माँ का दूध छूटा कि दादी,

नानी, फूफा, मौसी, चाची, मामी जो पीठ धपकावे, बोलारी से खेलावे वही बच्चे का सब कुछ हो जाता है। माँ चाहे बाप! और मेरी माँ कहती भी थी रेबनी मेरी है, बलचनमा बूढी का।''[110] नागार्जुन की रचना में सामाजिक यथार्थ कूट-कूटकर भरा हुआ है। सत्यनारायण के शब्दों में, ''वे अपने समय के सामाजिक यथार्थ से गहरे जुडे हुए है, सामाजिक संघर्ष की ओर उन्होंने अपने साहित्य को तो मोडा ही स्वयं भी उस संघर्ष में जुझे है। इसलिए उनके कथा साहित्य में अभिव्यक्त सामाजिक संघर्ष यथार्थ के अधिक निकट है।''[111]

परिवार की दृष्टि से रहन-सहन भी महत्त्वपूर्ण होता है। जब बलचनमा महेन बाबू के यहाँ काम पर जाता है तो महेन बाबू बंगाली थे। तो बंगाली लोगों के परिवार के बारे में वह कहता है, - बंगाली लोगों का परिवार बडा ही भरा-पूरा रहता है। उनकी गृहस्थी, उनका घर, उनका खान-पान उनकी ओढ़न पहिरन देशवाली लोगो से अच्छा किस्म का होता है। महेन बाबू आठ भाई-बहन थे। बाप-माँ थी। विधवा मौसी थी। दो नौकर थे। एक रसोइया था, जिसे बाबाजी कहकर पुकारा जाता। पूरा स्टेट था भैया। महेन बाबू के सिकटेरियट में अफसर थे। लगता है नागार्जुन संयुक्त परिवार के पक्षधर है।

'नई पौध' (1953) मे लेखक ने परिवार बडा और उपज, आमदनी कम याने कमाने वाले लोग कम खानेवाले लोग ज्यादा इस विषम परिस्थिति को यथार्थता से चितेरा है। जैसे नागार्जुन ने लिखा है, ''जिस परिवार में पन्द्रह प्राणी हो खानेवाले और कमानेवाले बस दो जने उसे भगवान ही सँभाले तो सँभाल ले जाये। आदमी के बूते की बात नहीं है यह।''[112] ग्रामों में यह परिस्थिति का सामना हमेशा लोगों को करना पडता था जिससे कमजोर बालकों की तादाद वहाँ जादा तर दिखाई देती थी। सरकार द्वारा सस्ता राशन बाँटने की व्यवस्था की है लेकिन यह सुविधा बेचारे उन लोगों तक पूरी तरह पहुँचती ही नहीं, बीच में ही मुनाफाखोर उसे खाते थे और गरीब जनता को भूँखमरी जैसे भयावह परिस्थिति का मुकाबला करना पडता था। दिगंबर का परिवार इसका उदाहरण है। दिगंबर का परिवार कैसा था ? परिवार में कौन-कौन लोग रहते थे ? वे क्या काम करते थे? इसका ब्यौरा कुछ इस प्रकार है - दिगंबर के तीन मामा थे। एक जिला सहर्सा में किसी हायस्कूल का हेड मास्टर था, एक मुक्तापुर की फैक्टरी में असिस्टंट एकाउंटेन्ट और तीसरा मॅट्रिक पास कर चुकने पर जो खेती-गिरस्ती में जूटा सो अब घर का मुखिया बन बैठा था। नानी थी, नाना थे, तीन मामीयाँ थी और सात बच्चे थे, एक नौकरानी थी, एक चरवाह था, सबसे उपर परिवार भर की देख-रेख

करनेवाले बाबू जैनंदनलाल दास तोथे ही यही दिगो के छोटका मामा थे। बडा परिवार बडी समस्याएँ यही सच है।

'बाबा बटेसरनाथ' (1954) उपन्यास में एक बटवृक्ष के माध्यम से नागार्जुन उस समय के परिवारों के बारे में कहा है, "परदादा ने इस पेड को बेटे की तरह पाला पोसा था। दादा और बाप ने इसकी सेवा डटकर की थी। जैकिसुन खुद बचपन से लेकर अब तक यह सब अपनी आँखों से देखता आया। 34 के भूकंप ने जब बरगद बाबा को उखाड दिया तो कई दिनों तक जैकिसुन का बाप जानू खोया-खोया रहा था, कई दिनों तक दादी के मुँह से बोल नहीं फूटा था और माँ ने बुरे सपने देखे थे। ऐसा लगता था कि बस्ती रूपउली के इस अहीर परिवार का कोई अपना बुजुर्ग घायल होकर गिरा गया है।"[113] रूपउली बडी बस्ती नहीं थी। तीन सौ परिवार थे। खानेवाले मुँहों की तादाद थी ढाई-हजार - अलावा पशुओ पक्षिओं और कुत्तो-बिल्लियों के। ब्राह्मण थे, राजपूत थे, भूमिहार थे। अत: परिवारों में कमानेवाले कम और खानेवाले की संख्या जादा थी। परिवार विविध जाति-धर्म के लोगों के थे।

बरगदबाबा जैकिसुन को परिवारों के बारे में कहता है, "उस जमाने में तेरी बस्ती की आबादी इतनी ज्यादा नहीं थी। कुल मिलाकर सत्तर परिवार थे। बच्चे-बुढे - जवान - अधेड सभी औरत-मर्दो की तादाद तीन सौ से उपर थी।"[114] यहाँ परिवारों का दायरा कितना था? उसके बारे में जो चित्रण हुआ है उसमें यथार्थता झलकती है। नागार्जुन निम्न मध्य वर्गीय परिवार के थे। उन्होंने अपने साहित्य में इन्हीं लोगों का चित्रण किया जो शोषित, पीड़ित, गरीब है। इसे स्पष्ट करते हुए तेजसिंह ने लिखा है, "निम्न मध्य परिवार से सम्बन्ध होने के कारण ही डॉ विश्वनाथ प्रसाद तिवारी को अपनी पुस्तक 'समकालीन हिन्दी कविता' में नागार्जुन पर 'निम्न मध्य वर्गीय दृष्टिकोन से जीवन को चित्रित करने का आरोप लगाया है, जो असंगत ही नहीं बल्कि नागार्जुन के संघर्षशील जीवन के कटु अनुभवों द्वारा निर्मित दृष्टिकोण की भी उपेक्षा करता है। नागार्जुन का साहित्य इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि उनका दृष्टिकोण निम्न मध्यवर्गीय नहीं, बल्कि उनके दृष्टिकोण का आधार स्तम्भ है किसान, मजदूर वर्ग अर्थात सर्वहारा वर्ग।"[115]

यहाँ स्पष्ट है समाजजीवन चित्रण में परिवार की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। आज पाश्चात्य संपर्क के कारण 'छोटा परिवार सुखी परिवार'संकल्पना विकसित हो रही है। परंतु इसके भी कुछ दुष्परिणाम है। अगर कोई संकट या मुसीबतें आती है तो कोई मदत नहीं करता वही परिवार संयुक्त

होते तो एक-दूसरे की मदत करते। अत: संयुक्त का मध्यम परिवार आज भी आनिवार्य है ऐसा कहा तो अनुचित न होगा। बच्चों पर अच्छे संस्कार के लिए इन परिवारों को बनाए रखना आज भी आवश्यक है यही संकेत दिया है। नागार्जुन ने ग्रामों में ऐसे ही परिवार होने के संकेत दिए है। अत: इन परिवारों में सामूहिकता, सामंजस्य, बंधुता, भाईचारा, एक दूसरे के सुख-दु:ख में शामिल होने की वृत्ति आज भी दिखाई पडती है।

2.4.8 रहन-सहन :-

भारत के ग्रामों के स्वरूप का प्राचीन काल से अब तक के इतिहास का अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल से आधुनिक काल तक दिन-ब-दिन मानव के रहन-सहन में बहुत बदलाव आया है। आरम्भ में मनुष्य घुमक्कडी जीवन जीता था फिर छोटी-छोटी बस्तियाँ और फिर ग्राम बने। जीवन के इस लम्बे सफर में प्रत्येक युग में जीवनस्तर में अनेक उतार-चढाव आए है। लेकिन वह प्रगति करता ही रहा है, पाषाण युग में मानव की रहन-सहन, न के बराबर थी जैसे की वह कपडों की जगह पेडों के पत्तों पर ही काम चलाता था। प्राणियों का शिकार कर जीवन यापन कर रहा था फिर फल, कंदमूल, आदि पाकर जीवन यापन करने लगा। जयंत मेहता ने इस संदर्भ में लिखा है - ''यह काल फिलस्तीन और मेसोपोतमिया में 8000 ई. पू. के लगभग आरम्भ हुआ। इंग्लैण्ड ने 2500 ई. पू. में नव पाषाण काल में प्रवेश किया। उस स्थिति पर पहुँचकर मनुष्य ने शिकारी, घुमक्कडी जीवन त्याग दिया। वह खेती करने लगा और उसने बस्तियों में रहना शुरू किया। नवपाषाण काल के मानव ने गेहूँ, जौ, बाजरा, कोदों आदि की खेती और भेड-बकरियाँ और अन्य चौंपाएँ पाले। वे लोग फसल की कटाई में एक दूसरे की मदत करते थे और उनके अनाज का संग्रह होता था। भोजन की कमी दूर होने से समय की बचत होने लगी और लोग कुशल दस्तकर हो गए।''[116] इस प्रकार धीरे-धीरे लोगों के रहन-सहन में बदलाव आने लगा।

वैदिक काल में लोग अपने जीवनयापन के लिए खेती और पशुपालन करने लगे। रामायण महाभारत काल मे लोग मिलजुलकर रहने लगे। एक-दूसरे की मदद करने लगे। धार्मिक आचरण करके भगवद्भक्ति में लीन होने लगे। इससे बेहतर परिस्थिति मध्यकाल तथा मौर्य काल में दिखाई पडती है। मुगल काल में ग्रामों के लोग खेती और घरेलु व्यवसाय करते थे। ग्रामीण लोगों का जीवन एक दूसरे पर अवलम्बित था। लोग काम करते थे लेकिन दो वक्त की रोटी नसीब नहीं होती थी। अंग्रेजों के शासन काल में लोगों की रहन-सहन में और समस्याएँ आने लगी। अंग्रेज सरकार ने

जमींदारी प्रथा शुरू की ओर पंचायतों के अधिकारों को छिन लिया। ग्रामीण लोगों के छोटे-छोटे व्यवसाय बंद होने लगे। अनेक लोग बेकार हो गए । उन्हें जीवन यापन करना कठीन हो गया वे रोजगार की तलाश में शहरों की ओर चले गए। आधुनिक काल में देश को आजादी मिली। अपना शासन आया। सरकार ने लोगों के लिए नई-नई योजनाएँ चलाई। 'रोजगार हमी योजना' से लोगों के हाथों को काम मिला और धीरे-धीरे उनका रहन-सहन का दर्जा उँचा होता गया। लेकिन सरकारी अधिकारी और नेताओं की भ्रष्टाचार नीति की वजह से आज के हालत उतने अच्छे नहीं हैं।

'रतिनाथ की चाची' (1948) उपन्यास में ग्रामीण लोगों की रहन-सहन किस प्रकार की थी यह स्पष्ट करते हुए रतिनाथ कहता है ''उस रात चुल्हा नहीं जला। चाची जाकर बिस्तर पर लेट गई। बिस्तरा क्या था, खजूर के पत्ते की चटाई थी। बीच घर में वही बिछाकर चाची लेट गई, न तकिया लिया न सुजनी।''[117] यहाँ लेटने के लिए जिस बिस्तरे का चित्रण लेखक ने किया इससे स्पष्ट होता हैं कि लोगों का रहन-सहन कितनी निकृष्ट दर्जे की थी। दिन का भात हाँडी में पका था, पत्थर के बडे कटोरे में दाल थी। एक दूसरी पथरौटी में जरा-सा बैंगन का चोखा रखा हुआ था। पर किसी ने हाथ तक नहीं लगाया। रत्ती भूखा जरूर था लेकिन उसकी भूख-प्यास हवा हो गई थी। उस जमाने में भी अवैध बच्चा गिराना कानून अपराध था उस पर पाबंदियाँ लगाई थी। चमाईन और गौरी की माँ दोनों के बीच का यह कथन देखिए, ''तुम लोग तो धनवाली हो हाकिम भी तुम्हारी तरफदारी कर लेगा। कितने जोखीम का काम है पेट गिराना। पता चल जाय तो सरकार सत्यानास कर देगी।''[118] यहाँ स्पष्ट हैं कि इस प्रकार के विचारों के भी लोग उस जमाने में थे इससे उनकी रहन-सहन मालूम होती हैं।

'बलचनमा' (1952) में बलचनमा महेन बाबू के साथ काम के वास्ते बंगाल चला जाता है। महेन बाबू के घर पहुँचते ही उनका रहन-सहन कैसी थी इस पर प्रकाश डालते हुए बचलनमा कहता है, ''मुझे महेन बाबू लेकर अपनी कोठरी में आए। अपना कोट उतारकर उन्होंने खूँटी पर टाँग दी। कुर्सी पर बैठे और इशारे से मुझे भी बैठने को कहा। मैं नीचे ही पलस्तर पर बैठ गया। कोठरी अच्छी और बडी थी साफ और सुथरी। एक पलंग, कुर्सी और मेज। किताबों से भरी रैंक, कपडे टाँगने के लिए खूँटिया। पलंग पर चनवे की तरह उपर लनी हुई मच्छरदाणी। पैर पोछने का पापोश। बडा अच्छा लगा।''[119] यहाँ स्पष्ट है कि कुछ लोगों की रहन-सहन कितनी सुचारू होती है। ग्रामीण लोग और शहरों में रहनेवाले लोगों के रहन-सहन में काफी अंतर होता इसका कारण वहाँ स्थित

परिस्थितियाँ। इसके बारे में बलचनमा और भैयाजी के बीच जो वार्तालाप हुआ उसका चित्रण कुछ इस प्रकार - ''चुन्नी मुझे सीधे नहीं ले आया। मालिकाईन की पट्टीयों से फटक-फटक गोसाई जी के भीडे खेतों की मेड़ परसे तीरी अमान के घर के पिछवाडे होते हुए वह मुझे अपने यहाँ ले आया। भैया, तुम भी तो देहात के रहनेवाले हो। जानते ही हो कि गाँव के लोग साँझ-सेवरे खा-पीकर सो जाते हैं। बूढ़-पूरनियाँ तो रात में बढ़ी तक खाँसते-खोसते रहते हैं या फिर अँधेरे में हि अपने बीते दिनों की याद में विभोर होकर बतियाते रहते हैं। दिन की कडी मेहनत से चूर-चूर जवान और अधेड लोग बहुत पहले ही सो जाते है। खेती का मौसम रहा तो बेकारी में सोते-उँधते दिन बीतता है और तब भी रात को जल्दी नहीं सोते। लोरिक, बिरहा, सल्हेस, या कबीर के भजन गुणगुनाते रहते हैं या फिर किसी चौपाई पर पुलाव के बीड़ों पर बैठे हुए उन्हें तुम खैनी मलते और चिलम फूँकते पाओंगे। औरते देर तक जगी रहती है और तडके उठ जाती है।''[120] कभी-कभी लोगों के रहन-सहन में अचानक परिवर्तन होता है इसका भी चित्रण हुआ है जैसे बचलनमा के शब्दों में, ''फूल बाबू को सुपारी का कतरा और छोटी इलायची खाते का शौक था। लेकिन इस आश्रम में आकर तो उन्होंने यह भी छोड दिया था। इधर-उधर आँख मारकर कुटिया में मैंने देखा जुते भी नहीं पाये, हाँ खडाऊँ जरूर थे। तब मुझे फूल बाबू की पटनावाली जिनगी याद आई। किसीम-किसीम की बनीइन, किसीम-किसीम का कमीज-कुरता, पाँच-पाँच, छैं, छैं कोट, तीन-तीन जोडा जूता, चार जोडी धोती, दो तौलिया, दो छोटे अँगोछे, दूध सी धूली हुई शानदार मसहरी, बिस्तरे में गयावाल सफेद कंबल, खुबसुरत सतरंजी-तोसक, उलेंच, तीन गो तकिया। हमारे फूल बाबू राजा की तरह रहते थे, अब फकीर हो गये हैं। मन में भारी कचोट हुआ मगर साथ-साथ सर्धा भी बढ़ने लगी थी।''[121]

'बाबा बटेसरनाथ' (1954) उपन्यास में स्वतंत्रता पूर्व काल में ग्रामीण लोगों की रहन-सहन पर सोचा है। निम्न वर्ग का और जमींदार, राजपुरोहितों का रहन-सहन कैसी थी ? यह स्पष्ट करने के लिए लेखक ने एक वटवृक्ष का सहारा लिया। वटवृक्ष याने बाबा बटेसरनाथ जैकिसुन को वर्तमानकाल की अपेक्षा उन दिनों (भूतकाल) में लोगों की रहन-सहन कैसी थी? यह बताते हुए कहता है, ''आज कल की अपेक्षा रहन-सहन उन दिनों कहीं ज्यादा साधा था। मिर्जई, दुपलिया टोपी, चमरोंधा जूता और पतले नास की नकुली छडी, जिसका सिर चाँदी के पत्तर से मढ़ा होता - मझली और उँची हैसियतवालों का यही बाना था। राजा-बाबू-बबूआन, जमींदार और राजपुरोहित - राज - पण्डित लोग छोटे लाट की पेचदार पगडी और दिल्लीवाले जुतों में हुआ करते। तेरा परदादा

चार गज की गादी धोती और ढाई गज की चादर लेकर पहनाई करने निकलता था। जूते उसके कभी नहीं देखे मैंने।''[122] नागार्जुन ने उस वक्त की परिस्थितिनुरूप लोगों के रहन-सहन का यथार्थता से चित्रण किया है। सत्यनारायण के शब्दों में, ''समाजवादी यथार्थवाद से तात्पर्य हैं कि मनुष्य को उसके परिवेश को उसकी मंत्रनाओं एवं पीड़ाओं को यथार्थता के साथ चित्रित किया है।''[123]

अत: यहाँ स्पष्ट है दिन-ब-दिन मनुष्य के रहन-सहन में बदलाव आ रहा है। लेकिन ग्रामों में यह स्थिति बिलकुल विपरित है। वहाँ बदलाव धीमी गति से हो रहा है ऐसा लगता है।

2.4.9 रूढ़ि परम्परा :-

प्राचीन काल से रूढ़ि एवं परंम्पराओं का प्रचलन रहा है। भारतीय समाज रूढ़ि एवं परंपरा की जंजीरों में जकडा हुआ है। देखा जाए समाज में जो लोकरीतियाँ होती है उन्हीं से ही रूढ़ियों का निर्माण होता है। जब कोई लोकरीती बहुत अधिक व्यवहार में आने के कारण आवश्यक समझ ली जाती है तो वह आगे चलकर रूढ़ि का रूप धारण कर लेती है। रूढ़ियों के संदर्भ में ए. डब्ल्यू. ग्रीन ने कहा है, ''कर्म करने की सामान्य रीतियाँ रूढ़ियाँ कही जाती हैं, जो लोकरीतियों की अपेक्षा अधिक निश्चयात्मक, उचित एवं उपयुक्त मानी जाती हैं। और जो अधिक कठोर एवं निश्चित दण्ड दिलवाती हैं, यदि कहीं उनका उल्लंघन हो।''[124] यहाँ स्पष्ट हैं कि लोकरीतियों को अगर नकारा जाए तो उसे दंडित किया जाता है। स्थान, काल, परिस्थिति के अनुरूप रूढ़ियाँ बदलती है। जैसे की हर एक प्रदेश की अलग-अलग रूढ़ियाँ हो सकती है अपीतू होती है।

रूढ़ियों का सम्बन्ध तो धर्म से है। अलग-अलग धर्म के लोगों की अलग-अलग रूढ़ियाँ होती है। अगर उन रूढ़ियों का पालन न किया जाए तो धार्मिक विश्वासों को धक्का पहुँचता है। इसलिए रूढ़ियों का पालन अंधविश्वासों और सामाजिक दबावों में होता है ऐसा कहा जाये तो अनुचित न होगा। यह तो एक पीढ़ी से अगली पीढ़ी को अनासायास ही मिलती है। इसे लोग परम्परागत होने से उसका पालन करते है इसमें कोई गलती नहीं करते, इसके बारे में वृन्दावनलाल वर्मा ने लिखा है, ''प्रथाएँ तथा परम्पराएँ समूह द्वारा स्वीकृत नियंत्रण की वह वे पद्धतियाँ है, जो एक पीढ़ी से दूसरे पीढ़ी को हस्तांतरित होती रहती है।''[125] जिस प्रकार बच्चा अपनी माँ की भाषा सीखता उसी प्रकार वह आगे चलकर समाज के आश्रय से रूढ़ि तथा परम्पराओं का ज्ञान भी प्राप्त करता है।

भारत के ग्रामों के लोग अज्ञानी, अंधविश्वासी है जिसके कारण वे रूढ़ियों तथा परम्पराओं का पालन करते हैं। उनमें रूढ़ियों का पालन करने की प्रवृत्ति परम्परागत रही है। अंत: वे मंत्र-तंत्र, जादू-टोना, झाड-फूँक आदि पर विश्वास करते है। दैनिक जीवन में वे परम्पराओं का पालन करने से धर्म की रक्षा होती है, इस तरह की उनकी श्रद्धा है। अत: ग्रामों में रहनेवाले लोग बेटा और बेटी भेद करना, बेटी को न पढ़ाना, सामाजिक नियमों का पालन करना आदि के कारण अपना वक्त और पैसा बरबाद करते है। नागार्जुन ने अज्ञानी, और अंधविश्वासी ग्रामीण लोग परम्परागत रूढ़ियों और परम्पराओं का किस तरह पालन करते है इसका चित्रण अपने उपन्यासो में किया है।

'बलचनमा' (1952) उपन्यास में नागार्जुन ग्रामीण समाज में स्थित रूढ़ि एवं परम्पराओं को उजागर किया है। नागार्जुन ने किसी व्यक्ति के मर जाने पर उसके बेटे ने बाल कटवाने की रूढ़ि है लेकिन किसी ने यह नियम तोडा तो उसे ठिक नाही माना जाता है इस बात पर चित्रण दे दिया है, ''राधाबाबू की माँ मरी तब भी उन्होंने घरवालों का साथ नहीं दिया। लोग कहते थे कि राधाबाबू अकरी हो गये है। नास्तिक हो गये है। माँ के मरने पर न बाल कटाये न अशौच माना। आसरम का सारा कामकाज पहले की तरह करते रहे।''[126] यहाँ पर स्पष्ट है कि माँ या बाप मरने पर पुत्र ने अपने बाल कटवाने चाहिए यह रूढ़ प्राचीन काल से चली आई है। अत: इसका पालन सबको करना चाहिए।

शादी-ब्याह को लेकर कुछ रूढ़ियाँ समाज में आज भी स्थित है। जैसे कि यहाँ पर बलचनमा की शादी होने के बाद कुछ रूढ़ियाँ है जिसका पालन करना पडता है - उधर मैया और रेबनी और टोल-पडोस के मर्द-मेहराऊ हमारा बार जो रहे थे। दाल-भात, चार तरकारियाँ, बडी, आचार, नींबू और आँवले की चटनी सब कुछ तैयार था। दुल्हन के लिए खिर बनाया था। डोली पर गुलाबी रंग कि साडी लपेटी हुई छोकडो हुई थी। छोकडों ने घर से देख लिया। गाँव के बहार पोखर के भिंडे पर रेबनी और चुन्नी की भाभी वगैरह अगवान के लिए खडी हो गई। यहाँ पर स्पष्ट है कि दुल्हन के लिए खिर तैया करना, डोली पर गुलाबी रंग की साडी लपेटना, अगवानी के लिए खडे रहना यह सब प्रचलित रूढ़ियाँ ही तो है। शादी की कितनी उम्र होनी चाहिए इसे भी लेकर कुछ रूढ़ियाँ है जैसे कि, ''हमारी बिरादरी में शादी कच्ची उम्र में ही हो जाती है। शादी न कह कर उसे सगाई कहना ठीक होगा। छ: वर्ष की उमर ही में शादी हो गई थी और तो कुछ याद न रहा लेकिन बारात में सिंगा बजाने वालों का नजरा कभी नहीं भूलेगा। बडे मालिक के यहाँ से पालकी मँगनी की गयी थी। कनेर

के फूल से थोडा - बहुत सजाकर मुझे उस पर बैठाया गया। बरात में दस-बारह जने गए थे। पीले रंग की धोती, धारीदार, हरा-सा कुरता। माथे पर जरी गोरे-वाली टोपी। पैरखाली। मुझे सब कुछ याद नहीं है लेकिन केला ओर लाई खाना अच्छी तरह याद है।''[127]

परम्पराओं को लेकर 'नई पौध' (1953) उपन्यास में शादी-ब्याह कौन-कौन-सी गोत्रों में होता है इस बारे में लेखक लिखते है, '' कमीज के पाकिट से निकालकर बादामी कागज की एक पूर्जी दिगंबर ने दुर्गा की ओर बढ़ा दी। कागज के उस टुकडे पर पेन्सिल से लिखा हुआ पहला वाक्य था, वाचास्पति झा, गोत्र वत्स --- - दिगो, गोत्र तो बिल्कुल ठिक है। हमारी बहन का गोत्र काश्यप पडता है -- इतना तो मुझे भी मालूम है कि वत्स और काश्यप गोत्रों में ब्याह होता है।''[128] यहाँ पर स्पष्ट हैं की अगर, गोत्रों से गोत्र नहीं मिलते तो उनमें शादी ब्याह नहीं रचनाएँ जाने ऐसी परम्परा है। इसी परम्परा की ग्रामीण लोग कडाई से पालन करते है। ग्रामीण लोग परम्परागत रूढ़ियों का पीढ़ी-दर-पीढ़ी पालन करते आ रहे है। अंधविश्वास के कारण रूढ़ियों को तोडने या उनका पालन न करने से देवी-देवता क्रोधित होती है, ऐसा वे मानते है। इसलिए वे अभावों के बावजूद भी उनका पालन करते हैं। कुछ जातियों में देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए बकरे सूअर आदि की बलि चढ़ाई जाती है। देखा जाए तो यह रूढ़ियाँ गलत है, इससे समाज को कोई फायदा नहीं मिलता, इस संदर्भ में विलियम ग्राहम समगरने कहाँ है, ''रूढ़ियों से मेरा अभिप्राय लोकप्रिय रीतियों एवं परम्पराओं से है, जब इनमें यह निर्णय सम्मिलित हो कि, ये सामाजिक कल्याणार्थ लाभप्रद हैं और जब सामाजिक स्तर पर उनका पालन किए जाने के लिए बल का प्रयोग किया जाता है, परंतु किसी भी सत्ता (एथॉरिटी) द्वारा परिचलित नहीं किया जाता।''[129]

लगता है रूढ़ि-प्रथा-परम्पराओं के पीछे अज्ञान के साथ धर्म का प्रभाव, कमजोर मानसिकता है। समाजहित के लिए यदि परम्परा है जो उसे मानना अच्छी बात है परंतु आज अधिक स अधिक अहितकारी प्रथाएँ है। परंतु कोई भी पात्र इसका विरोध नहीं करता। यदि विरोध करे तो उसे बहिष्कृत किया जाता है। आज का पढ़ा-लिखा नागरी व्यक्ति भी इससे अछूत नहीं, अत: ग्रामों का हाल तो कहना कठिण है। साहित्यकारों ने अपनी कलम से उसे स्पष्ट करने का अच्छा प्रयास किया है।

प्रगतिवादी नागार्जुन ने ग्रामांचलों की रूढ़ि-परम्पराओं के संदर्भ में जो मानसिकता है उसे सही ढंग में प्रस्तुत किया है। विवाह जैसे पवित्र संस्कार में रूढ़िग्रस्तता है। बलिप्रथा का विरोध आज हो रहा है, नारी शिक्षा पर बल दिया जा रहा है यह परिवर्तन अब अन्य उपन्यासों में दिखाई देते है, जैसे 'नई पौध' इसका प्रमाण है।

2.4.10 विकास योजनाएँ :-

भारत के ग्रामों के स्वरूप का प्राचीन काल से अब तक के इतिहास का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल से आधुनिक काल तक मानव ने धीरे-धीरे प्रगति की है। स्वातंत्र्यपूर्वकाल में अंग्रेजों का शासन था। विदेशी सरकार को लोगों की उन्नति तथा विकास से अधिक अपने स्वार्थ की चिन्ता थी। इसलिए सरकार ने लोगों के लिए कुछ विशेष रूप से विकास योजनाओं का अवलंब नहीं किया। सरकार से होनेवाला शोषण और दैवी आपदाओं के कारण लोगों को जीवन जीना मुश्किल हो गया था। अंग्रेजो के शासन काल में सुधार न होने से उनकी स्थिति सोचनीय हुई थी। अंग्रेज सरकार ने जमींदारी प्रथा शुरू की और पंचायतों के अधिकारों को कूचल कर रखा। इसलिए ग्रामों की स्थिति और भी बदत्तर हो गई। ग्रामों में रहनेवाले लोग बेकार हो गये उनके हाथों के लिए काम नहीं रहा, तो न रोजी रही न रोटी। ग्रामों की अपेक्षा शहरों में रोजगार के साधन, अनेक सुविधाएँ थी। परिणामत: लोग नगर की ओर चले। धीरे-धीरे गाँव उजडने लगे। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक दृष्टी से ग्रामों की अवस्था बहुत ही दयनीय हो गई थी।

सन 1947 को देश को आजादी मिली। आजादी मिलने के बाद हमारी अपनी सरकार का शासन शुरू हुआ। देश में लोकतांत्रिक शासन प्रणाली को स्वीकार किया गया और संविधान बनाया गया। उसमें लोगों के हित, कल्याण, और रक्षा के लिए सरकारने नई-नई विकास योजनाएँ चलाई। इन विकास योजनाओं को शहरों की तरह ग्रामों में भी कार्यान्वित किया गया। किन्तु उसकी कार्यवाही ठीक ढंग से नहीं हुई थी। कुछ विकास योजनाएँ ग्रामों तक नहीं पहुँची बल्कि वह कागज पर ही रही। सरकार केवल ग्रामों के विकास और खेती के विकास के लिए विकास योजनाओं को कार्यन्वीत करने की घोषणाएँ करती थी किन्तु असल में कुछ नहीं हो रहा था। और इसीके कारणस्वरूप ग्रामों का विकास नहीं हुआ।

आधुनिक काल में देश की राजनीति का स्वरूप बदला है। आज के नेता लोगों को सिर्फ आश्वासन देते हैं लेकिन कुछ करते नहीं हैं। चुनाव नजदिक आने पर सिर्फ लोगों को विकास का वादा करते और चुनाव के बाद सब दिये हुए वादों को तिलांजलि देते, सब भूल जाते। वे केवल अपना स्वार्थ देखते थे। नेताओं की तरह सरकारी अधिकारी भी भ्रष्टाचार रूपी नैया में बैठे थे। सरकारी योजनाओं की कार्यवाही सही तरीके से वे नहीं करते। इसलिए सरकारी विकास योजनाओं का लाभ ग्रामों में बसे गरीब जनता को नहीं मिला। वह पिछडे हुए थे, पिछडे ही रह जाते। उनकी

आर्थिक स्थिति शोचनीय बनती जा रही है। औद्योगिकरण के कारण लोग नए-नए उद्योग, कारखाने शुरू किए जा रहे हैं। किन्तु वे नगरों में शुरू हो रहे हैं। इसके कारण स्वरूप ग्रामों में जो छोटे-छोटे व्यवसाय थे वे भी बंद होने लगे। सरकार विकास योजनओं को नगरों में ज्यादा तर चला रही है परंतु ग्रामों में नहीं। आज भी कितने ग्रामों में बिजली नहीं है, रास्ते नहीं है, स्वास्थ सुविधाओं का अभाव हैं। अगर ग्रामों का विकास होना जरूरी हैं तो शिक्षा जैसी महत्त्वपूर्ण सुविधा को हर एक ग्राम में चलाना चाहिए तब संपूर्ण ग्रामों का विकास होगा। यह सब सुविधाओं का अभाव होने के कारण बहुत से ग्रामवासी अपनी खेती-बाडी, घर-मकान बेचकर नगरों की ओर जा रहे है। अगर इस परिस्थिति को बदलना हो तो पहले ग्रामों का विकास करना चाहिए। वहाँ पर विविध योजनाओं की शुरूवात करनी चाहिए। ग्राम ही सही अर्थ में हमारे भारत वर्ष की रीढ़ की हड्डी है, तो पहले ग्रामों का विकास होना जरूरी है।

भारत यह ग्रामों का देश है। गांधीजी ने 'देहात की ओर चलो' यह आदेश किया था। यह सच है जब तक ग्रामों का विकास नहीं होगा तब तक देश का विकास असंभव है। असुविधा, अभाव, अज्ञान, अत्याचार ही ग्रामों की विशेषता है। अब उसमें परिवर्तन होना अनिवार्य है। सरकार पंचवार्षिक योजना के माध्यम से इस पर कार्य कर रही है। साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं में इसका यथार्थ चित्रण करके परम्परागत गाँव और आधुनिक गाँवों का चित्रण किया है। अब गाँवों में विकास की रोशनी पहुँच रही है परंतु गाँववालों का उसमें सहयोग मिलना अनिवार्य है।

'बलचनमा' (1952) इस उपन्यास में नागार्जुन ने जो भी विकास योजनाएँ चलाई जाती है उनके बारे में चित्रण किया है। बलचनमा जब काम के उद्देश्य से फूल बाबू के साथ जाता तो वहाँ रेल की सुविधा का जिक्र आया है जैसे कि बलचनमा भैया से कहता है, "खैर भैया, फूल बाबू कुली से सामान लदवा कर आगे चले। मैं चला पीछे-पीछे सुटकेस सिर पर उठाए। इस लाटफारम से उस लाटफारम पर जाने के लिए एक ठो बड़का पूल है। पक्का मजबूत। ऊपर से टीन को छतरी भी है। सीढियाँ बनी है। चढ़ने को भी और उतरने को भी।"[130] 'गया लैन की गाडी तीसरे लाटफारम से सरकर लगती है। पहला - दूसरा लाटफारम मेन - लाईन के लिए है। पूरब की ओर जाओगे तो लखनऊ, दिल्ली। बडी-बडी इंजिन, बडा-बडा आने जाने के लिए खुशफैल रास्ता। बडे फाटक। सब कुछ बडा। कुली भी पक्की बोली बोलते थे। बीड़ी-सिगरेट बेचनेवाले भी काहे-कुहे करते थे। साहबी ठाट में कोट, पैंट पहने हुए पचासो आदमी। कोई जमशेदपुर जा रहा था कोई धनबाद। कोई

हजारीबाग जा रहा था तो कोई चाइबसा।''[131] यहाँ पर स्पष्ट है कि रेल जैसी विकास योजना सरकारने बनायी है, देखा जाय तो यह सब ब्रिटीश शासन की देन है। लेकिन इस सुविधा के कारण लोगों के यातायात का प्रश्न छूट गया है क्योंकि रेल की यात्रा दूसरे यातायात के साधनों से सस्ती है और हमारी गरीब जनता के लिए अच्छी है। ऐसी बहुत सारी विकास योजनाओं को सरकार चला रही है जिसके कारण लोगों का विकास हो रहा है।

''बाबा बटेसरनाथ' में परिवर्तित रूपऊली गाँव का चित्रण है। वहाँ शिक्षा प्रसार के लिए पाठशाला खुली है। वहाँ के लोग अब पढ़ रहे है। इंजिनीअर, वकील, अफसर बने है। जैनरायन का बेटा इंजिनीअर, गाँव में दो वकील, एक डिप्टी ऑफीसर, प्रोफेसर है। इस संदर्भ में डॉ. अर्जुन घरात का कथन है, ''विद्या सिर्फ धन से प्राप्त नहीं होती। मानव जाति के सामाईक प्रगति के लिए शिक्षा आवश्यक है।''[132]

निष्कर्ष :-

द्वितीय अध्याय ''नागार्जुन के उपन्यासों में चित्रित ग्राम जीवन : सामाजिक संदर्भ'' में 'रतिनाथ की चाची' (1948), 'बलचनमा' (1952), 'नई पौध' (1953), 'बाबा बटेसरनाथ' (1954) आदि उपन्यासों में ग्रामीण जीवन के सामाजिक संदर्भो का यथार्थता से चित्रण किया है।

'रतिनाथ की चाची' में शुभंकरपूर और तरकुलवा का ग्रामजीवन, 'बलचनमा' में दरभंगा का ग्रामजीवन, 'नई पौध' में मिथिला के नौगाछिया का ग्रामजीवन, 'बाबा बटेसरनाथ' में रूपउली के ग्रामजीवन में स्थिति समाज जीवन की स्थिति और गति, भारतीय समाज जीवन की विशेषताएँ, किसानों की स्थिति, शिक्षा प्रसार, अंधविश्वास, देवी-देवता, नारी-जीवन, जातीयता, परिवार, रहन-सहन, रूढ़ि-परम्पराएँ, विकास योजनाएँ आदि का चित्रण उपन्यासकार ने किया है। ये सभी उपन्यास ग्रामजीवन के प्रतिनिधी उपन्यास है। यहाँ पर नागार्जुन ने अपने उपन्यासों के माध्यम से निम्नवर्गीय समाज की वेदनाओं का यथार्थता से चित्रण किया है। यहाँ पर ग्रामीण जीवन की स्थिति और गति के बारे में चर्चा करते हुए वहाँ के लोग, उनकी समस्याएँ, रूढ़ि-परम्पराये, रस्म-रिवाज, व्यवसाय, रहन-सहन आदि पर विचार किया है। स्वयं अभावों में पलने के कारण तथा स्वयं एक ग्रामवासी होने के कारण सामाजिक स्थिति को अत्यंत बारीकी से अभिव्यक्त किया है। ग्रामीण लोगों का परिवारिक जीवन, नारी जीवन, शिक्षा, विवाह, प्राकृतिक प्रकोप, शोषण, भ्रष्टाचार, अन्याय, अत्याचार का चित्रण यथार्थ दृष्टी से किया है।

देश का प्रमुख व्यवसाय खेती हैं अत: खेती पर ही हमारे देश की अर्थव्यवस्था अवलम्बित है। अत: 'रतिनाथ की चाची' उपन्यास में जमीन, फसल, जमींदारों के किसानों पर अत्याचार आदि का चित्रण हुआ है। अपनी खेत जमीन जमींदारों के यहाँ गिरवी रखना आदि जैसे समस्याओं का चित्रण हुआ है। 'बलचनमा' में बलचनमा नामक निम्नवर्गीय किसान पुत्र अपनी यातनापूर्ण जीवनकथा कहता है। पिता के मरने के बाद बचपन में ही उसे जमींदारों के यहाँ नौकरी करनी पडती है। और जमींदारों के अमानवीय अत्याचारों को झेलना पडता है इसका चित्रण यहाँ हुआ है। रामदरश मिश्र के शब्दो में , ''पूरे उपन्यास में किसान का दुख-दर्द और संघर्ष व्याप्त है तथा मानवीय अधिकारों को जकडनेवाली शोषक-जर्जर मान्यताओं, वर्ग, व्यवस्थाओं और परम्पराओं पर कलात्मक प्रहार किया गया है।''[133] 'बाबा बटेसरनाथ' में फसल बरबाद होने पर किसन वर्ग पर जो संकट आता है उसका चित्रण हुआ है। 'नई पौध' में किसानों की स्थिति कितनी अच्छी थी इसका ब्यौरा दिया है।

शिक्षा यह एक ऐसा क्षेत्र है जिस पर मनुष्य, गाँव, समाज, राज्य, राष्ट्र की उन्नती निर्भर रहती है। 'रतिनाथ की चाची' उपन्यास में शुभंकरपूर में शिक्षा प्राप्ति का अधिकार ब्राह्मणों ने अपने पास ही रखा था। अत: शूद्रों को वह अधिकार नहीं था। अत: यहाँ विषमता का चित्रण हुआ है। 'बलचनमा' में शिक्षा स्थिति, शिक्षा के प्रति उदासिनता, स्कूलों की स्थिति आदि पर विचार हुआ है। 'नई पौध' में बिसेसरी को अप्पर प्रायमरी स्कूल तक शिक्षा दिलवाने की बात कहीं है, तो 'रतिनाथ की चाची' में जयनाथ को अपने बेटे रतिनाथ को खूब पढा-लिखाकर एक पंडित बनाने की महत्त्वकांक्षा उभर आयी हैं।

'अंधविश्वास' भारतीय ग्रामीण लोगों में कूटकूटकर भरा हुआ है। जिससे समाज व्यवस्था दिमग की तरह अंदर से खोखली हो रही है। 'रतिनाथ की चाची' उपन्यास में रतिनाथ को विद्या आरंभ करने के लिए कौनसा दिन अच्छा रहेगा यह देखा जाता। यह एक अंधविश्वास का ही प्रमाण है। यहाँ पर कुछ धार्मिक अंधविश्वासों पर भी प्रकाश डाला है जैसे की बैल शिवजी के वाहन होने के कारण बैलगाडी में न बैठना आदि। 'बलचनमा' उपन्यास में भूत-प्रेत पर विश्वास करना, मनगढ़त बातों पर विश्वास करना, भूत को झाडना, भूत लग जाना आदि बातों पर विचार हुआ है। 'नई पौध' में ग्रामों के लोग पाप-पुण्य, पूर्व जन्म पर विश्वास रखते है। 'बाबा बटेसरनाथ' उपन्यास में ग्वालों, अहिरों द्वारा भुईया महाराज का पूजन कर दस भेंडे बलि चढ़ाने और दो जवानों को लहुलुहान करने की बात हुई है जो एक अंधविश्वास का ही दाखिला है।

ग्रामीण समाज अज्ञान, धार्मिक रूढियों और अंधविश्वास के जंजीरों में जकडा हुआ है। भारतीय समाज व्यवस्था में धर्म को महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसी अज्ञान और धर्मांधिता के कारण कई देवी-देवताओं का निर्माण हुआ है। 'रतिनाथ की चाची' उपन्यास में देवी-देवताओं के पूजन-अर्चन को महत्त्व है। वे लोग राम, लक्ष्मण, सीता, शालीग्राम, नर्मदेश्वर की पूजा करते है। 'बलचनमा' में भी लोगों द्वारा मंदिर जाकर देवताओं की पूजा की जाती है। 'नई पौध' उपन्यास में खोखाई पंडित बिसेसरी का विवाह जल्द से जल्द हो इसलिए पंडित के पास जाते है, पंडित भी कपिलेश्वर नाथ के कृपा से यह शुभ कार्य जल्दी संपन्न होगा ऐसा कहता है। याने की भगवान पर ग्रामीण लोगों की श्रद्धा रहती है। 'बाबा बटेसरनाथ' उपन्यास में भी शिवजी की आराधना करने की बात उठायी है।

भारतीय समाज व्यवस्था में नारी को महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। उसे पवित्र माना जाता है। प्राचीन काल से यह दौर चलता आ रहा है। पुरूषप्रधान संस्कृति में नारी को गौण स्थान दिया जाता है। वह एक बन्दिनी की तरह जीवन बीता रही है। 'रतिनाथ की चाची' उपन्यास में गौरी (रतिनाथ की चाची) विधवा ब्राह्मणी है। ग्रामीण जीवन की सामाजिक विषमता, संकिर्ण विश्वासमयता, स्वार्थपरता और जहालत के बीच गौरी की यातना और दु:खद अंत का सजीव चित्रण है। 'बलचनमा' में बलचनमा नामक निम्नवर्गीय किसान पुत्र की यातनापूर्ण जीवन कथा के साथ बहू-बेटियों को बुरी नजर से देखनेवाला एक वर्ग कितना भ्रष्ट और जालीम है यह दिखाने का प्रयास किया है। तथा स्त्रियों पर होनेवाले शोषण का भी चित्रण किया है। 'नई पौध' में शादी के अवसर पर नारी पर जो अत्याचार होते है उसका चित्रण किया है। यहाँ पर अनमेल शादी की बात छेडी है।

भारत देश में प्राचीन काल से जाति-पाँति के बंधन है। समाज में आज जाति-पाँति, मजहब के नाम पर दंगे-फसाद हो रहे है न जाने कितने बेगुनाह लोगों की जाने जा रही है। 'रतिनाथ की चाची' इस उपन्यास में निम्न जाति के लोगों को धर्म-मंत्र पठन का कोई अधिकार नहीं है इसका चित्रण हुआ है। तथा जातीयता का प्रभाव नारियों पर भी पडा है।

'बलचनमा' उपन्यास में बलचनमा निम्न जाति का होने के कारण उस पर न जाने कितने अत्याचार, जुल्म होते है इसका विवरण देखने को मिलता है। 'नई पौध' उपन्यास में नागार्जुन ने मुख्य रूप से अनमेल विवाह की समस्या को चितेरा है। बल्कि जातीयता पर ज्यादा प्रकाश नहीं डाला सिवाय एकाद प्रसंग के माध्यम से जातीयता का मुद्दा सामने आता है।

भारतीय संस्कृति में 'परिवार' यह संकल्पना बहुत विशालकाय है। संस्कृति की रक्षा देखा जाए तो इन परिवारों से ही होती है। समाज की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण इकाई परिवार होती है। 'बलचनमा' इस उपन्यास में - परिवार में कमानेवालों की तुलना में खानेवालों की तादाद ग्रामीण भागों में ज्यादा रहती हैं यह बताया गया है। यहीं बात 'नई पौध' में भी उठाई है। 'बाबा बटेसरनाथ' में परिवारों की संख्या तथा ब्राह्मण, राजपूत, भूमिहारों के परिवारों की चर्चा की है।

भारत के ग्रामों के स्वरूप का प्राचीन काल से अब तक के इतिहास का अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि, प्राचीन काल से आधुनिक काल तक दिन-ब-दिन मनुष्य के रहन-सहन में काफी बदलाव आया है। 'रतिनाथ की चाची' उपन्यास में ग्रामीण लोगों का रहन-सहन सीधा-साधा रहता था। यहाँ तक की बिस्तरे के लिए खजूर के पत्तों की चटाई रहती थी। 'बलचनमा' में मोहन बाबू का रहन-सहन सांचेबंध तथा उँचे दर्जे का होता है। यहाँ पर ग्रामीण और शहरी लोगों के रहन-सहन में काफी अंतर होता है ऐसा दर्शाया है। 'बाबा बटेसरनाथ' में निम्नवर्ग और जमींदार, राजपुरोहितों का रहन-सहन किस प्रकार का था यह चित्रित किया है।

प्राचीन काल से रूढ़ि एवं परम्पराओं का प्रचलन होता आया है। स्थान, काल, परिस्थिति के अनुरूप रूढ़ियाँ बदलती हैं। रूढ़ियाँ परम्परागत एक पीढ़ी से दुसरी पीढ़ी तक हस्तांतरीत होती है। 'बलचनमा' इस उपन्यास में भी बाप के मरने पर बाल कटाने की रूढ़ि का चित्रण मिलता है। परम्पराओं को लेकर 'नई पौध' में -शादी-ब्याह कौन-कौनसे गोत्र में हो सकती है इसका दाखला दिया है। कुछ जातियों में देव-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए बकरे की बलि दी जाती है।

हमारे देश को 15 अगस्त 1947 में आजादी मिली। आजादी के बाद हमारा शासन आया। संविधान बनाया गया। संविधान में लोगों के हित, कल्याण और रक्षा के लिए कुछ तत्त्वों को अपना गया। लोगों के कल्याण के लिए सरकार ने नई-नई योजनाएँ चलाई। लेकिन यह योजनाएँ ग्रामों तक ठिक तरह से पहुँच ही नहीं पाई। सरकारी अधिकारी और नेताओं ने इसमें भ्रष्टाचार की नीति अपनायी। नागार्जुन के उपन्यासों में भी सडक योजनाएँ, रेल का निर्माण, शिक्षा प्रसार, स्वास्थ्य सुविधाएँ, पीने के पानी की सुविधाएँ आदि जैसी विकास योजनाओं का विवरण मिलता है।

नागार्जुन काल्पनिक कथा लिखनेवाले, मनोरंजन के लिए साहित्य रचनेवाले साहित्यकार नहीं है। वे समाज जीवन का यथार्थ चित्रण करनेवाले प्रभावी समाजवादी साहित्यकार है। नारी शोषण, अत्याचार, जमींदारों की मनमानी के खिलाफ आवाज उठानेवाले है। उनकी रचनाएँ मिथिला

आँचल के ग्राम जीवन की करूण कहानी है। ग्रामजीवन की जीती जागती तसबीर है। ग्रामजीवन में स्थित अज्ञान, अंधविश्वास, अकाल, बाढ, रूढ़ि, परम्पराएँ, जातीयता, धार्मिक मान्यताएँ आदि का चित्रण करके उन्होंने उपन्यास में एक जिंदादिली लाई है। प्रगतिवादी नागार्जुन ग्रामव्यवस्था में परिवर्तन चाहते है। इसके लिए वह संगठन पर बल देते है। किसान, मजदूर, दलितों को संगठीत दिखाकर अपने अधिकार के लिए संघर्ष करने के लिए ललकारते है। उनके उपन्यासों की कथा आज भी हमें प्रासंगिक एवं यथार्थ लगती है इसमें कोई शंका नहीं। अत: वे ग्रामजीवन के एक सफल उपन्यासकार है।

संदर्भ सूची

1. डॉ. ज्ञान अस्थाना, ''हिन्दी उपन्यासों में ग्राम समस्याएँ', राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 1995, पृ. 23.
2. वही, पृ. 33.
3. तर्कतीर्थ लक्ष्मणशास्त्री जोशी - 'मराठी विश्वकोश' भाग - 5, प्रकाशन - सचिव महाराष्ट्र राज्य साहित्य संस्कृति मंडल, मुंबई, प्र. सं. 1976, पृ. 353.
4. सं. श्यामसुंदरदास - 'हिन्दी शब्दसागर - भाग - 3' काशी नागरी प्रचारणी, काशी, सं.1967, पृ. 1370.
5. धीरेन्द्र वर्मा - 'हिन्दी साहित्यकोश - भाग 1', ज्ञानमण्डल लि. वाराणसी, द्वि. सं.1964, पृ. 309.
6. प्र. न. जोशी - 'आदर्श मराठी शब्दकोश', पृ. 240.
7. डॉ. ज्ञानचंद गुप्त - 'आँचलिक उपन्यास - अनुभव और दृष्टी', राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 1995, पृ. 23.
8. वही, पृ. 23.
9. डॉ. विवेकी राय - 'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य और ग्रामजीवन', लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र. सं. 1979, पृ. 17.
10. सत्यनारायण - 'नागार्जुन', रचना प्रकाशन, जयपुर, प्र. सं. 1991, पृ. 71.
11. नागार्जुन - 'रतिनाथ की चाची', पृ. 23.
12. वही, पृ. 58.
13. डॉ. सुषमा धवन - 'हिन्दी उपन्यास', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. 1961, पृ.302.
14. सत्यनारायण - 'नागार्जुन', रचना प्रकाशन, जयपुर, प्र. सं. 1991, पृ. 73.
15. डॉ. सुषमा धवन - 'हिन्दी उपन्यास', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. 1961, पृ.305.
16. नागार्जुन - 'बलचनमा' पृ. 8.
17. डॉ. प्रकाशचन्द्र शर्मा - 'जातिवाद और हिन्दी उपन्यास', पृ. 387.
18. डॉ. गणेशन - 'हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन', राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, प्र. सं. 1962, पृ. 195.

19. नागार्जुन - 'बलचनमा', पृ 85.
20. वही, पृ. 99.
21. डॉ. सुषमा धवन - 'हिन्दी उपन्यास', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. 1961, पृ.308.
22. डॉ. ज्ञानचंद - 'आंचलिक उपन्यास : अनुभव और दृष्टि', राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 1995, पृ. 30.
23. डॉ. प्रकाशचंद्र भट्ट - 'नागार्जुन : जीवन और साहित्य', सेवासदन प्रकाशन, मंदसोर, प्र. सं. 1974, पृ. 237.
24. नागार्जुन - 'बलचनमा', पृ. 27.
25. वही, पृ. 139.
26. वही, पृ. 202.
27. नागार्जुन - 'बाबा बटेसरनाथ', पृ. 69.
28. नागार्जुन - 'नई पौध', पृ. 127.
29. नागार्जुन - 'रतिनाथ की चाची', पृ. 38.
30. वही, पृ. 21.
31. वही, पृ. 31.
32. वही, पृ. 96.
33. वही, पृ. 101.
34. डॉ. आशा मेहता - 'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में वैचारिकता', भारतीय ग्रंथ निकेतन, दिल्ली, प्र. सं. 1988, पृ. 193.
35. नागार्जुन - 'बलचनमा', पृ. 53.
36. वही, पृ. 68.
37. वही, पृ. 109.
38. वही, पृ. 135.
39. नागार्जुन - 'बाबा बटेसरनाथ', पृ. 6.
40. वही, पृ. 15.
41. वही, पृ. 72.
42. वही, पृ. 125.

43. नागार्जुन - 'नई पौध', पृ. 7.

44. वही, पृ. 8.

45. वही, पृ. 67.

46. वही, पृ. 12.

47. नागार्जुन - 'रतिनाथ की चाची', पृ. 35.

48. वही, पृ. 48.

49. वही, पृ. 53.

50. सौ. शरयु अनंतराम - 'सामाजिक संस्था', महाराष्ट्र विद्यापीठ ग्रंथ निर्मिति, नागपुर, प्र.सं.1971, पृ. 243.

51. तेजसिंह - 'नागार्जुन का कथा साहित्य', पराग प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. 1993, पृ. 76.

52. नागार्जुन - 'बलचनमा', पृ. 8.

53. वही, पृ. 24.

54. वही, पृ. 30-31.

55. वही, पृ. 71.

56. वही, पृ. 79.

57. वही, पृ. 192.

58. नागार्जुन - 'बाबा बटेसरनाथ', पृ. 20.

59. वही, पृ. 45.

60. वही, पृ. 45.

61. वही, पृ. 98.

62. वही, पृ. 56.

63. वही, पृ. 59.

64. वही, पृ. 62.

65. नागार्जुन - 'नई पौध' राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 1998, पृ. 14.

66. वही, पृ. 72.

67. वही, पृ. 79.

68. नागार्जुन - 'रतिनाथ की चाची', किताब महल, इलहाबाद, प्र. सं. 1948, पृ.35.

69. वही, पृ. 50.

70. वही, पृ. 60.

71. रामलाल विवेक - 'आधुनिक भारत के निर्माता - पंडित जवाहरलाल नेहरू', श्याम प्रकाशन, जयपुर, प्र सं. 1969, पृ. 136.

72. डॉ. ज्ञानचन्द गुप्त - 'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्रामचेतना', अभिनव प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. 1995, पृ. 96.

73. तेज सिंह - 'नागार्जुन का कथा साहित्य', पराग प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. 1993, पृ.79.

74. नागार्जुन - 'बाबा बटेसरनाथ', पृ. 150.

75. नागार्जुन - 'नई पौध', पृ. 16.

76. नागार्जुन - 'नई पौध', पृ. 71.

77. नागार्जुन - 'बाबा बटेसरनाथ', पृ. 21.

78. वही, पृ. 20.

79. वही, पृ. 30.

80. तेज सिंह - 'नागार्जुन का कथा साहित्य', पराग प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. 1993, पृ.55.

81. आशारानी व्होरा - 'नारी शोषण : आईने और आयाम', नेशनल पब्लिकेशन हाऊस, दिल्ली, प्र. सं. 1982, पृ. 231.

82. डॉ. सुषमा धवन - 'हिन्दी उपन्यास', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. 1961, पृ.20.

83. नागार्जुन - 'रतिनाथ की चाची', पृ.29.

84. वही, पृ. 39.

85. वही, पृ. 64.

86. वही, पृ. 66.

87. वही, पृ. 85.

88. तेज सिंह - 'नागार्जुन का कथा साहित्य', पराग प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. 1993, पृ.56.

89. नागार्जुन - 'बलचनमा', पृ. 76.

90. वही, पृ. 25.

91. डॉ. सुषमा धवन - 'हिन्दी उपन्यास', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. 1961, पृ.23.

92. तेज सिंह - 'नागार्जुन का कथा साहित्य', पराग प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. 1993, पृ.65.

BARR. BALASAHEB KHARDEKAR LIBRARY
SHIVAJI UNIVERSITY, KOLHAPUR.

93. यज्ञदत्त शर्मा - 'प्रबंध सागर', अक्षर प्रकाशन, सोनीपत, प्र. सं. 1989, पृ. 115.
94. डॉ. रमेश देशमुख - 'आठवें दशक की हिन्दी कहानी में जीवन मूल्य', विद्या प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं. 1994, पृ. 96.
95. नागार्जुन - 'नई पौध', पृ. 137.
96. तेज सिंह - 'नागार्जुन का कथा साहित्य', पराग प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. 1993, पृ.60.
97. यज्ञदत्त शर्मा - 'प्रबंध सागर', अक्षर प्रकाशन, सोनीपत, प्र. सं. 1989, पृ. 153.
98. डॉ. देवेश ठाकूर - 'मैला आंचल की रचना प्रक्रिया', वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं.1987, पृ. 68.
99. नागार्जुन - 'रतिनाथ की चाची', किताब महल, इलाहाबाद, प्र. सं. 1948, पृ. 54.
100. वही, पृ. 54.
101. वही, पृ. 91.
102. वही, पृ. 10.
103. नागार्जुन- 'बलचनमा', पृ. 13.
104. वही, पृ. 56.
105. नागार्जुन - 'पई पौध', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 1998, पृ.41.
106. डॉ. श्रीराम शर्मा - 'लोकसाहित्य का सामाजिक सांस्कृतिक अध्ययन', निर्मल पब्लिकेशन, दिल्ली, प्र. सं.2000, पृ. 18.
107. डॉ. एस. बी. महाजन - 'आधुनिक हिन्दी कहानी साहित्य में काममूलक संवेदना', चिंतन प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं. 1986, पृ. 117.
108. तेज सिंह - 'नागार्जुन का कथा साहित्य', पराग प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. 1993, पृ.74.
109. नागार्जुन - 'बलचनमा', पृ. 24.
110. वही, पृ. 41.
111. सत्यनारायण - 'नागार्जुन', पृ. 73.
112. नागार्जुन - 'नई पौध', पृ. 94.
113. नागार्जुन - 'बाबा बटेसरनाथ', पृ. 7.
114. वही, पृ. 36.

115. तेज सिंह - 'नागार्जुन का कथा साहित्य', पराग प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. 1993, पृ.14.

116. जयंत मेहता - 'पुरातत्व', शिक्षा भारती दिल्ली, प्र. सं. 1976, पृ. 65.

117. नागार्जुन - 'रतिनाथ की चाची', किताब महल, इलाहाबाद, प्र. सं. 1948, पृ. 07.

118. वही, पृ. 22.

119. नागार्जुन - 'बलचनमा', पृ. 68.

120. वही, पृ. 86.

121. नागार्जुन - 'बलचनमा', पृ. 98.

122. नागार्जुन - 'बाबा बटेसरनाथ', पृ. 108.

123. सत्यनारायण - 'नागार्जुन', पृ. 112.

124. ए. डब्ल्यू. ग्रीन - 'सोसियालॉजी एण्ड ऐनलिसिस अवर लाईफ इन मॉर्डन सोसायटी', मेकग्रो हिल एण्ड कं. न्यूयॉर्क, पृ. 1994.

125. वृन्दावनलाल वर्मा - 'मृगनयनी', मयुर प्रकाशन, झाँसी, प्र. सं. 1950,पृ. 200.

126. नागार्जुन - 'बलचनमा', पृ. 105.

127. वही, पृ. 112.

128. वही, पृ. 112.

129. विलियम ग्राहम समगर - 'फोकवेज', गिलिन एण्ड कं. बोस्टन, 1936, पृ. 13

130. नागार्जुन - 'बलचनमा', पृ. 45.

131. वही, पृ. 126.

132. डॉ. अर्जुन घरात - 'कथाकार नागार्जुन और बाबा बटेसरनाथ', अतुल प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं. 1997, पृ. 119.

133. रामदरश मिश्र - 'हिन्दी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पटना, प्र. सं. 1968, पृ. 23.

-----x-----